विनोद पुस्तक मन्दिर का १८वाँ पुष्प !

सारन्धा

करुणान्त-वीर-काव्य

कृतिकार
राजेन्द्र देव सेंगर

प्रकाशक
विनोद पुस्तक मन्दिर
हास्पिटल रोड, आगरा ।

विजय दशमी]   सम्वत् २००३   [मूल्य ४)

?

विचार था कतिपय प्रमुख वीरांगनाओं की अमर गाथा को छन्दों में आबद्ध करने का। 'सारन्धा' काव्य को इसी भावना में जन्म दिया है।

कुछ ही छन्द लिखे गये थे कि क्रम व्यतिक्रम हो गया। लिखना भी भूले रहा........दो वर्ष बीत गये।

एक दिन स्व० बाबू प्रेमचन्द जी की रानी "सारन्धा" नाम की आख्यायिका पढ़ने में आई। पूर्व विचार को पुनः संबल मिला। पहले के छन्दों की शोध हुई और आगे का क्रम चल निकला।

जैसा भी कुछ है यह तो हमारे अपने कहने का विषय नहीं। पर इस काव्य को इस रूप में लाने का बहुत कुछ श्रेय तथा कथित आख्यायिका के स्वनाम धन्य लेखक को ही है और अत. मैं उनके प्रति आदर भाव से कृतज्ञ हूँ।

देव कुटीर बरौली
इटावा
४-१२-४५

—लेखक

तुम्हें भेंट !

मेरे रूठे साथी !

४६ की २६ मार्च वाली काली रात भूल न सकूँगा। उस दिन से तुमने अपने पार्थिव-आधार से, सन्यास लेकर, 'स्वर्गीय' कहलाने का सम्मान पाया है। तुम्हारा संसार, तबसे तुम्हे 'स्वर्गीय' कहता है। किन्तु मेरे मादक ! तुम तो पहले से भी स्वर्गीय थे। अनन्त तारिकाओं के सम्मुख कोमल शरच्चन्द्रिका से धोये धरा के श्वेत बिछौने के ऊपर तुम्हारे स्वर्गीय अन्तर्वाह्य का मिला हुआ प्रथम-मूक-परिचय मेरे लिये आजीवन न भुलाया जा सकने वाला आह्लाद था। आपाद-वेणि स्वर्गीय थे तुम मेरे साथी ! मैं धन्य था तुम्हें पाकर।

आज वे सोने के दिन अतीत लूट ले गया।

मेरे मानस सरसिंज की मृदुल धूप, तुम अस्त हो। मैं देखा किया, तुम जीवन के पर्दे में धीरे-धीरे चले गये। कुछ दे भी न सका तुम्हें। जाते समय तुम्हें देने के लिये, खारी पानी के दो बूँद भी मेरे पास न निकले। गरीब के तीर तुम्हारे समादर के योग्य धरा ही

क्या था? आदान का प्रदान रंक से बन ही कब पाया? बिना पाथेय के ही तुम चले गये! आह, तुम मेरी बेबसी समझते थे!

*　　　*　　　*

आज लो, स्वीकार करो। तुम्हारे लिये तुम्हारे संगी की एक छोटी सी भेंट है। तुम्हें प्रिय होगी। तुम्हें 'कुछ' देकर आत्म-सन्तोष की साथ पूरी करने के लिये ही देता हूँ इसे तुमको। और सुनो! इसे तुमने ही प्रस्तुत भी कराया था मेरे कवि मे प्राण-स्फुरणा संचरित कर और यत्र-तत्र मेरे कवि के विषय, भाव और सौन्दर्य बन कर भी।

और मेरे प्रिय! मेरी यह भेंट तुम्हारी रुचि और हृदय की स्पष्ट झलक भी है। अत. लो स्वीकार करो अपने आकुल अकिंचन की पूजा।

मेरे ध्यान-लोक के अप्रतिम सौन्दर्य! तुम्हारे अव्यक्त कुसुम-कोमल करों मे इस सु-करुणान्त काव्य का करुणान्त समर्पण है। जहाँ भी हो, अगीकार करना मेरे साथी।

तुम्हारे लिये सन्तत सन्तप्त
तुम्हारा ही 'साथी'
३-५-४६

मङ्गलाचरण

मानस - उपवन - राघव की –

जो थी नव विकसित कुन्द-कली,

रहे सानुकूला सदैव वह –

श्री मैथिली विदेह - लली।

१

ओ जगत् पूज्य भारत ललाम।
तुमको प्रणाम ! तुमको प्रणाम ?

कितने महान कमनीय कान्त—
तुमने अवलोके हैं युगान्त ?
ओ अमर प्राण ! ओ सौम्य शान्त !

है पूत तुम्हारा ठाम ठाम !
ओ जगत् पूज्य भारत ललाम !
तुमको प्रणाम ! तुमको प्रणाम !!

ओ महा महिम ! जो तप विभोर !
ओ कर्म निष्ठ - कर्मठ - कठोर !
गौरव गहीर में सराबोर—

तुम रहे सदा से याम याम।
ओ जगत् पूज्य भारत ललाम !
तुमको प्रणाम ! तुमको प्रणाम !!

तुमने जाये हैं महा काल,
तुमने जाये हैं सौम्य भाल।
कब किसके ऐसे हुये लाल ?

जैसे कि तुम्हारे कृष्ण राम।
ओ जगत् पूज्य भारत ललाम।
तुमको प्रणाम ! तुमको प्रणाम !!

ओ सुरसरि के अनमोल देश !
है धन्य तुम्हारा चारु वेष।
पद तल सागर, शिर हिम प्रदेश,

सुरगण करते झुकि झुकि प्रणाम।
ओ जगत् पूज्य भारत ललाम !
तुमको प्रणाम ! तुमको प्रणाम !!

जो शरण तुम्हारी गहें, आय,
वह भला कहाँ फिर विमुख जाय ?
अरि को भी चाहा प्रेम लाय

परिणाम भले हो कु प्रणाम।
ओ जगत् पूज्य भारत ललाम !
तुमको प्रणाम ! तुमको प्रणाम !!

कण कण में गौरव-कथा भार
अभिमान भरा कटु-व्यथा-भार
या कहो तुम्हारा प्राण-भार ?

हम जिसे देखते हृदय थाम !!
ओ जगत पूज्य भारत ललाम !
तुमको प्रणाम ! तुमको प्रणाम

ओ विश्व वन्द्य भारत महान !
अपने का तुमको सदा भान ?
तुम बन्दनीय हो साभिमान

तुमको शिरसः शतशत प्रणाम।
ओ जगत पूज्य भारत ललाम !
तुमको प्रणाम ! तुमको प्रणाम !

सारन्धा

१

आओ देखो तो आज सही
बुन्देलखण्ड की रम्य मही
सुषमित निसर्ग की कृतियों से
जो अपने पर ही फूल रही।

सरिता धसान का मृदु मद-रव
अपने अल्हड़पन से सम्भव
उन्मत्त बनाता है मन को
कानों को पिला मदिर आसव।

जब दोषा का तम-तोम घना
जग कवल बना लेता अपना
बतला देता यह निखिल विश्व
है माया का कोरा सपना।

जब जड़ निस्पन्दित हो जाते
थक कर चेतन भी सो जाते
नीरवता घूम घूम कर के—
तुड़वा देती जग के नाते।

तब नभ के तारक आँख खोल
देखा करते हैं डोल डोल ;
केवल धसान की ही लहरें
इठलाती हैं कल्लोल लोल ।

वे ही मोहक मन्थर गाना
अपना प्यारा अपना जाना
नीरव निशीथ की गलियों में
गाती फिरती हैं मन माना ।

उत्ताल तरंगों से निर्मल—
विक्षिप्त मौक्तिक सरिता-जल
पा कर उसमे ही धोता 'शशि
अपनी किरणों का जाल धवल ।

ऊषा शैया को तजते ही
आयगा तीर आ तड़के ही
पाती निखार सौगुना अधिक
मुख का प्रक्षालन करते ही ।

रवि सरि का निर्मल मुकुर बना
दिन भर उसमें आनन अपना,
देखा करता यों ही उसमे—
नित उन्नत और पतन अपना ।

कूलस्थ सभी वृक्षावलियाँ
दल फूल फलों की भर डलियाँ
देतीं धसान को भेंट समुद्र
फूलतीं जिन्हें लख कर कलियाँ।

द्विज अपनी मीठी तानों से
रव भीने कोमल गानों से
गाते धसान के साथ विरद
बुन्देलो के अभिमानो से।

इसके समीप ही दुर्ग बड़ा
भूधर समान देखिये अड़ा
टेकड़ी राज्य की अविचलता
वह बता रहा निर्भ्रान्त खड़ा

जिन दिनों 'शाहजहाँ' का शासन
भारत मे रोंपे था आसन,
अनिरुद्ध सिंह से उन्हीं दिनों
था सुफल टेकड़ी सिंहासन ।

अपमान जनक प्रस्तावों से
उनके असह्य कटु भावों से
जब अपर राज्य हो जाते थे
सहमत स्वमेव सद्भावो से।

तब गौरव थी जिसकी थाती
वह स्वाभिमान की मदमाती
टेकड़ी राज्य निर्भय उनको
धक्के दे कर थी ठुकराती।

कितने ही मानी आर्य भूप—
तज कर अपना नैतिक स्वरूप
बन कर स्वजाति के लिये राहु—
ढा रहे अनय थे बिविध रूप।

कुल कीर्ति-कौमुदी को खो कर
बेटियाँ और बहनें दे कर—
इतराते थे सम्राटों के—
ये सभी ससुर साले हो कर।

अनिरुद्धसिंह इनको निहार
कर उठते नीरव चीत्कार
सम्मान भाव से भावित वे
हो उठते पागल बार बार।

कैसे सहते इन बातों को
मर्यादा पर इन घातों को
वे बढ़ कर करते दमन सदा
अरि के कठोर उत्पातों को।

वे अरि को निष्ठुर आरे थे
खर पानीदार दुधारे थे
गरवीले उन्नत - मस्तक वे
गौरव दे कभी न हारे थे।

केवल ईश्वर से डरते थे
उसका ही आदर करते थे
सम्राट के लिये झुकने को
वे लज्जा अनुभव करते थे।

लेखनी आज तुझको लिखनी
जिसके प्रति पाँते इनी गिनी
वह सारन्धा थी इन्हीं वीर
टेकड़ी-नराधिप की भगिनी।

उसने भाई के साथ साथ,
सब कुछ सीखा था साथ साथ
इस युगुल-प्राप्ति पर भूरि भूरि
टेकड़ी हो रही थी सनाथ।

वह कहने को ही कन्या थी
सुकुमारी लोनी कन्या थी
पर सिंह-शाविका वन्या सी
क्षत्रिय-मर्यादा धन्या थी।

अनिरुद्ध सिंह ही के समान,
उसमे भी द्युति थी दीप्तिमान।
अरि की विचार-बारूद हेतु—
चिनगारी थी जाज्वल्यमान।

बाहर से शान्त सोम थी वह,
भीतर से ज्वलित होम थी वह
राका की वसुधा सी मनोज्ञ
उद्दीप्त-वृषार्क-व्योम थी वह।

वह वीर - बुन्देला - बाला थी,
आदर्श गुणों की माला थी,
स्वातन्त्र्य विचारों की प्रतिमा,
वह तम मे तप्त उजाला थी।

भेजतीं बन्धुओं को रण में
जो पतियों को समरांगण मे
थीं भेज सपूतों को देतीं—
जो जलते संगर प्रांगण मे।

भारत की सहोदराओं का
पति-प्राण उन दाराओं का
सारन्धा मे लोहित लोहू—
था उन्हीं वीर माताओं का।

वह मरने मे न कभी कटती
मारने में न पीछे हटती
इसके विपरीत विचारों में
उससे न किसी की थी पटती।

अनिरुद्ध सिंह को उद्बोधन
देती थी वह करि संबोधन
भैया, "उसका जीवन सुधन्य
जो करे शत्रु का अवरोधन।

"यह प्राण चले जायें जाये
हम अपनी टेक निभा जायें
रह जाये टेकड़ी टेक भरी
हम रहें रहें जाये जायें।"

"अभिमान मान का धनी रहे
मर्यादा अपनी बनी रहें
हम रहें रहे या न भी रहें
पर देश-जाति की बनी रहे।"

"राजस्व लोक में मान भरा
वर्चस्व धन्य अभिमान भरा
तेजस्व वीर का वही वन्द्य
जो शान भरा बलिदान भरा।"

"हत स्वाभिमान यदि हुआ कहीं
क्षत क्षत्रिय का यश हुआ वहीं
फिर आनबान यश मान बिना–
क्षत्रिय रह सकता कहीं नहीं।"

"है विजित जाति दयनीय बड़ी
अभिशापित उसकी घड़ी घड़ी
यह प्राण-मोह के कारण ही
उस पर निष्ठुरता टूट पड़ी।"

"इस लिये लड़ें रण से जूझें
है यही पुरातन की सूझें।
निज देश जाति की बात रहे
हम धर्म कर्म समझें बूझें।"

"ओ भैया, कभी न हटना तुम
अरि आगे डट कर डटना तुम
दिखलाना पुरुषों का पौरुष
बन जाना निष्ठुर घटना तुम।"

भगिनी का यह सम्बोधन था
भाई के प्रति उद्बोधन था।
पर भाभी के प्रति मानों ये
पीड़ा-पूरक प्रतिशोधन था।

पड़ता उसका अनुराग जाग
कह उठती थी संकोच त्याग
हो लड़की अभी न बोध तुम्हें
तुम क्या जानो अनुराग राग ?

अरी ! मेरे मानस-नल को—
तुमने स्पर्श किया पल को ?
कितनी कमनीय कामनायें
है चाह रही थोड़े जल को ?

तुम मान के लिये मरती हो
सम्मान के लिये मरती हो
तुम स्वाभिमान की रक्षा में
मेरा धन स्वाहा करती हो।

क्या सीख ननद तुम देती हो
किस युग का बदला लेती हो
मुझ से भी भला कभी पूछा
किस पीड़ा को ले सेती हो।

"क्या बिना नीर की मीन बनूँ ?
फणिनी क्या मैं मणिहीन बनूँ ?
क्या बिना ज्योति की दीप हरे ?
रे मैं दुखियारी दीन बनूँ ?

"वे जीव हमारी देह के हैं
वे प्राण हमारी गेह के हैं
मैं उनके बिना रहूँ जीती
ये सम्भव भी सन्देह के हैं।

"माना कि विचार धन्य तेरे
पर क्या न शरण्य भाव मेरे
तुम मर्यादा की धनी बनी
है नाह-नेह मुझको घेरे।"

अज्ञात भीत से भय खा कर
अनुराग-रङ्ग में लय पा कर
इस भाँति ननद से कहती थी
नव वधू शीतला अकुला कर।

वह सरल हृदय की बाला थी
भोली भाली मधुबाला थी
था पीने वाला पास नहीं
सूनी उसकी मधुशाला थी।

उस मुकुलित कलिका का अलिन्द
सूना रहता उसका मिलिन्द—
अपना मधुमास मनाता था,
गूँजित करके रण का अलिन्द।

रस रूप सुरभि की हिलकोरें—
आलोड़ित करि-करि झकझोरें,
आघातों के प्रतिघात घने—
क्षण उसे उछारें फिर बोरें।

बसु याम कल्पना-कूची से—
वह, चित्र प्रणय की सूची से—
नित छाँट छाँट मानस-पट पर—
लिखती थी व्यथा समूची से।

वह प्रेम-जगत के सपने में—
बिचरा करती थी अपने में।
थी उसकी दुनिया बसी हुई,
अपने प्रियतम के जपने में।

इस लिए ननद का उद्बोधन,
अपने प्रिय के प्रति सम्बोधन,
था क्षार मर्म-क्षत पर उसके—
था किन्तु न कोई संशोधन।

× × ×

रवि गिर चुके थे पश्चिमाचल में थके निष्प्राण-से
खर-कर-निकर भी साथ मे तूणीर गत वर-वाण से।
फिर अनुगता सी लालिमा भी शीघ्र हो जाने लगी
अभिसार सजि अनुरागिनी रजनी-वधू आने लगी।

रजनीश भी प्राची-क्षितिज-पट खोल झट आगे बढ़े
अपनी प्रिया से भेंटने सामोद वे ऊपर चढ़े।
नभ रंगशाला था बना इस विश्व मोहन खेल का
वह दृश्य कैसा रम्य था 'दो के मनोहर मेल का।'

यह सौम्य लीला सोम की थी सित-सुधा बरसा रही
नीरव जगत को प्यार मय आमोद से हरसा रही।
पर दे रही थी शीतला को कष्ट का कर पीड़ा घनी
गत-तोय सर-शफरी सदृश थी तल्प पर वह पद्मिनी।

कुछ दूर पर उसकी ननद वीणा विनिन्दित तान से
पीयूष थी ढरका रही अभिमानिनी अभिमान से।
धवलाम्बरा पर स्वर्ग का आनन्द थी बरसा रही
थी गीत अपने देश की काल कीर्ति का वह गा रही।

"हे हे सुमेया सुफलदा हे मलयजात सुशीतला
हे शस्य श्यामा विश्व मे तेरी कहाँ उपमा भला
स्नेह सिक्त सुयामनीया शुभ्र ज्योत्सना-मयी।
हे द्रुम दलादिक फुल्ल कुसुमित शोभने महिमा मयी।

हे मृदुल हास्यमयी सुमधुरा-भारती-मयि अम्ब हे!
हे नव्य सुखदा दिव्य वरदा विश्व की अवलम्ब हे!
हे शान्ति शाला प्रेममयि समभाव भूरि प्रसारिणी!
हे चंडि अत्याचारियों की मान मर्दन कारिणी!

जब कण्ठ-रव तेरा सुकलकल भीम-नाद प्रसार दे,
करवाल तेरी देख जाती त्राहि त्राहि पुकार दे;
तब कौन कह सकता तुझे अबलासहाया परवशा,
इच्छा को तू यदि रसातल को चली जाये रसा।

हे श्यामला सरला सुपूता सुस्मिता वर भूषिता
हे मातृ भू धरणी सुभरणी प्रचुर धान्य प्रपूरिता—
हे तारिणी अघ हारिणी हे नवल कुञ्ज विहारिणी
शतशः नमामि तुझे प्रसू आमोद मंगल कारिणी।*

× × ×

वीरानुजा इस भाँति कोमल कान्त श्रुत-प्रिय राग की,
हाला चढ़ा कर मस्त थी निज देश के अनुराग की।
भाभी परन्तु अधीर होकर करवटे थी ले रही,
विरहाग्नि की पीड़ा लिये वह कामिनी था से रही।

थी देव-दर्शन के लिये आराधिका अकुला रही
थी आज मोहन के लिये वह राधिका दुख पा रही;
लख कर दशा यह नव-वधू की तब वहाँ जी खोल के-
फिर से नई धारा बही संगीत का रस घोल के।

"तुम तो निठुर बेपीर निर्मोही हुये प्राणेश हो
हा मुझ वियोगिन की दशा भी सोचते तुम लेश हो?
यह चीर कृष्णा का बनी काटे न फटती रैन है
मोहन बचा लो अब न आता एक पल को चैन है।"

* वन्देमातरम् गीत का भाव।

ननद और भाभी

सारन्धा का मातृ-वन्दना गाता हुआ और शीतला का,
विरहाकुल करवटें बदलता हुआ चित्र

L J PRESS, ALLAHABAD

यह स्वर-लहरि ज्यों ही पड़ी उस विरहिणी के कान में
वह छटपटा कर रह गई कुछ चोट थी उस तान में।
बोली 'अरे क्यों जी जलाती हो रहो कुछ शान्त भी
रहने न दोगी क्या मुझे संसार में कल से कभी।"

"लोरी सुनाती हूँ तुम्हें "बस सुन चुकी, चुप भी रहो"
"यह रुक्ष भावों का कहाँ से धन मिला भाभी कहो"
"तुमको रुचा परिहास मुझको नींद तक आती नहीं"
"वह भी किसी की खोज में ही तो गई होगी कहीं।"

× × ×

इस क्षण उभय-तरुणी-वदन, सुस्मित खिले पाये गये
मानों कि हों सर में खिले दो कुमुद मन भाये नये।
सहसा इसी क्षण सौध-पथ के द्वार-पट खट से खुले
परिहास-रत उन उभय के तब ध्यान आहट से डुले।

देखा उन्होंने पार्श्व से आता हुआ अनिरुद्ध को
उस धीर वीर प्रशस्त कौशल युक्त युद्ध प्रबुद्ध को।
वह शस्त्र हीन ससिक्त था भीगे वसन थे देह में
जाने कहाँ से आ गया था वह अचानक गेह में।

बढ़ कर वधू ने शीघ्र अपने प्राण का वन्दन किया
विश्वेश का सामोद उसने मूक अभिनन्दन किया।
पर दूसरे ही क्षण वहाँ पर शब्द भी ये सुन पड़े
"भैया कहो क्या बात है हैं आप क्यों भीगे खड़े?"

"कर पार आया हूँ नदी" "क्यों ? अस्त्र शस्त्र गये कहाँ ?"
"कर गत हुये सब शत्रु के" "थे और सैनिक जन कहाँ ?"
"सब वीर-गति पा कर महा अमरत्व पद लेने गये ?"
"फिर तुम अकेले उस परम पद प्राप्ति से क्यों रह गये ?"

क्या सत्यही रण आज अपना शत्रुओं के हाथ है ?
क्या टेकड़ी का भाग्य भैया भीरु और अनाथ है ?
लिखती रही जो शेल से अरि-पीठ पर निज जय-कथा
वह टेकड़ी क्या आज सहती है पराजय की व्यथा ?

स्वाधीनता पर शत्रु-कृत यह चोट कटु अभिशाप है
यह पूर्वजों के धवल यश पर कालिमा की छाप है।
हा मोह प्राणों का तुम्हें कर्तव्य - पालन - भार से
लाया विमुख कर डर गये तुम मृत्यु की हुँकार से।

"बस अब नहीं आगे बहिन" वह वीर सहसा कह उठा,
सोया हुआ क्षत्रीत्व उसकी धमनियों मे बह उठा।
भट का वदन अब हो रहा था प्रात के मार्तंड सा,
जँचने लगा साकार अब वह रुद्र-रोष प्रचंड सा।

कँपने लगा सर्वांग रद-पुट त्वेष से हिलने लगा,
था आप ही तब आप को वह काटने सहसा लगा।
बोला अहो अब कील सकता कौन है अनिरुद्ध को,
है कौन जो इस बार कर दे शान्त विषधर क्रुद्ध को।

बस रिपु-रुधिर की धार केवल शान्त कर सकती मुझे
समराग्नि की भीषण शिखा ही मोद दे सकती मुझे।
अब देखना अनिरुद्ध-असि रत रिपु-रुधिर के पान में
होगी न पुनरावृत्ति जैसा हो चुका अज्ञान मे।

"तो मैं सजूँगी साज अपने बन्धु से वर गात में,
करना कुशल हे दीन बन्धो! ज्ञात में अज्ञात में।
कुल की सुकृति है साथ श्री कुलदेव दें गौरव घना,
पाओ विजय" "वा वीर गति, बस है यही अब कामना।"

कहता हुआ वह वीर यों द्रुत प्रगति से बाहर गया
चित्रस्थ सी वह नव-वधू लखती रही कौतुक नया।
कुछ दूर तक फिर त्यक्त शर सी वेग से दौड़ी गई
आश्चर्य पर वह विस्मिता सी देखती क्या रह गई।

देखा कि भट ने जो लखा निज प्रिया को आया वहाँ
कूदा किले से फिर न जाने वेग से पहुँचा कहाँ,
शर-विद्ध वह द्विज शाविका सी मान ज्वाला में दही
भू पर गिरी उच्छिन्न लतिका सी न सुधि तन की रही।

परिचारिकाओं ने सपदि व्यजनादि के उपचार से,
आश्वस्त कर चेतन किया अपने कुशल व्यापार से।
तब स्वस्थ होकर वह सुतन्वी क्षोभ मिश्रित मोह से—
कहने लगी वीरानुजा से वचन यों विद्रोह से।

'क्या कीर्ति है इतनी तुम्हें प्रिय' ? 'क्यों नहीं सविशेष है।'
"होता स्वपति तो जानतीं सविशेष का क्या वेष है ?
लेतीं सदा निज वक्ष मे "देती चुभा असि वक्ष में।"
"अच्छा समय देगा बता यह स्वतः सर्व समक्ष में।"

× × ×

वाचक, कथित बाते हृदय द्वय मे खटक ऐसी गईं,
बरसें गईं थी बीत पर वे जँच रही थी सब नईं।
अनिरुद्ध भी कब के विजय श्री-लाभ कर थे फिर चुके
वैषम्य पर भाभी-ननद का थे न वह भी हर सके।

!!

'स्वपति न यों जाने देतीं
डोली बीच छिपा लेतीं
समय स्वयं बतला देगा
नीर क्षीर अलगा देगा।'

व्यंगाघात स्वभाभी का
कभी न होता था फीका।
विश्व एक दिन सुन लेगा
'समय स्वयं बतला देगा।'

२

लेखनी अब आगे का वृत्त—
उगल जिज्ञासा शान्ति निमित्त।
चहिन सारन्धा के अनिरुद्ध—
समर कौशल में सफल प्रबुद्ध—

जीत कर मदरौना सानन्द—
और कर रिपुओं को निस्पन्द—
आ गये थे सकुशल निज गेह,
शत्रुओं की कर शीतल देह।

पीठ दी जिसे समझ दुर्दान्त,
उसी का करके क्षय निर्भ्रान्त—
फिरे थे तीन मास उपरान्त,
लाभ का सुन्दर सुयश वदान्त।

किन्तु इस जय का दाता कौन ?
सुयश का सच्चा धाता कौन ?
अयश से भट का त्राता कौन ?
लेखनी कह दे है क्यों मौन ?

बहिन को उस दिन वाली उक्ति
(मर्म को छेदन वाली उक्ति)
यशोमुक्ता की जननी शुक्ति-
हुई है वही 'बहिन की उक्ति।'

शीतला ने पाया फिर प्राण !
किन्तु कब उसका निहित प्रयाण?
न जाने कब किस रिपु का वक्ष-
छेदने को उसका कर-दक्ष—

छोड़ दे उस रमणी का मोह
मचा दे कब न प्रणय-विद्रोह।
उसे, उस दोषा का संलाप,
(ननद-भाभी का कटु आलाप)

दे रहा था पीड़ा-परिताप,
हो रहा था अभिनव अभिशाप।
न था तद्भावों का अवरोध,
न दे पाती थीं मन को बोध,

भभक उठता था अन्तर क्रोध,
किन्तु क्या हो सकता प्रतिशोध ?
खींच कर प्रियानुजा का चित्र,
भर रही थी ये भाव विचित्र।

ओह मर्यादा का यह खेल!
मृत्यु मुख में भी देती ठेल!
भला क्या यही सुमन्त्राचार ?
बहिन का भाई पर यह प्यार ?

भभकती रण ज्वाला में ठेल
निभाती मर्यादा का खेल ?
मुझी पर है यह अत्याचार
छोड़ती है विषाक्त फुफकार!

स्वप्रिय पर भी क्या वह यों आप,
चढ़ा सकती समरोचित् दाप ?
नहीं यह कभी नहीं यह खार,
मुझी पर खाये है सविकार।

प्रेम कितना उन्मादक प्रेम!
सुखद भी अवसादक भी प्रेम!
मधुर भी और तिक्त भी प्रेम!
पूर्ण भी और रिक्त भी प्रेम!

वाङ्मय सब को इसका साहित्य
कौन चाहेगा कड राहित्य ?
किन्तु फिर भी अनचाहे नित्य
मुझे मिलता ही है राहित्य।

तीस बरसों का लम्बा समय—
बिताया सह कर कैसा अनय ?
सदा ही रही सदय सानुनय,
किन्तु क्या मिला किया विनिमय ?

प्रणय-मन्दिर से निष्कासन !
वनों में प्रिय का निर्वासन !
विरह का जमा हुआ आसन !
और निष्ठुर मन का शासन !

कुचक्रिन अब भी तो तू मान
मान मत रस मे विष तू सान
कर चुकी अब तो मन की बात
और अब क्या देगी व्याघात ?

न जाने प्रिय भी क्यों चुपचाप
मान लेते उसका आलाप !
न ज्यों उनका कोई व्यक्तित्व,
न अपने पर भी कोई स्वत्व !

एक लड़की का चले प्रभुत्व ?
शोच्य है ऐसा भी पुरुषत्व !
उसी के अनुशासन का भार—
भले हो मूर्त - मृत्यु - व्यापार

न करके उचितानुचित विचार
विवश से कर लेते स्वीकार।
और वह नित्य नये प्रस्ताव—
जुझाने वाले क्रूर सुझाव

सुझाती दे गौरव की आन,
और ये बिना हिलाये कान—
सहज कर लेते अंगीकार,
यही चलता रहता व्यापार।

और मेरा हाँ, मेरा प्यार—
कुसुम सा कोमल गन्धित प्यार,
वृन्त पर मुरझाता सुकुमार।
हाय रे कितनी निष्ठुर मार!

किन्तु वह दिन भी तो है पास
कि जब मेरा उसका सहवास
और नित का कड़ुवा परिहास
टूट जायेगा बिना प्रयास।

देख लूँगी तब वह भी बात !
कि जिसने दे गँभीर आघात—
भेज कर प्रिय को रातों रात
दिया था मुझे कठिन अनुताप ।

हठीली कहती थी हठ ठान—
"निभाऊँगी मैं अपनी आन"
किन्तु देखूँगी उसकी आन,
किस तरह से रखती है आन ।

इस तरह गुन कर वृत्त सरोष—
दे रही थी मन को परितोष ।
किन्तु कब होता शान्त विकार ?
उठ रहा था कुछ हाहाकार !

अचानक पार्श्व कक्ष को चीर—
आ गये उसके प्रियतम तीर ।
अहो पर उसको इसका ज्ञान
हुआ तक नहीं न टूटा ध्यान

बनी थी यथापूर्व सी मौन—
भाव जाने तद्धृद्गत कौन ?
चिबुक को कराधार दे आप
विचारामग्ना थी चुपचाप ।

कि सहसा मधुर अमीं रस घोल-
कर्णगत हुये सुपरिचित बोल।
"प्रिये वीरोचित - धर्म निकेत,
प्रुघर -सुठि - सद्भावना समेत,

कीर्ति के जाग रूक प्रतिरूप
क्षात्र-गौरव-गुण के स्तूप
शौर्य के अमिट सुनहरे पृष्ठ
मिले सबंधी मुझे विशिष्ट

प्रिये! वे हैं विश्रुत गुणधाम"
सुनूँ भी तो उनका शुभ नाम ?"
चौंक कर जिज्ञासा के साथ—
और कर-गत कर प्रियतम हाथ,

कहे पिक बैनी ने ये बैन,
प्रश्न-सूचक फिर फेरे नैन।
किन्तु उत्तर में वह चुपचाप—
हुई प्रिय-भुज-आबद्धा आप।

कहा प्रिय ने धर चिबुक रसाद्रि-
वरोरुह, हैं वे विपुल गुणाद्रि।
ओरछा उनको पाकर धन्य—
हो गया, हैं वे सुभट अनन्य।"

'अहो क्या चम्पतराय महीन्द्र?'
''अये, हाँ वही वरिष्ठ क्षितीन्द्र
सर्वथा सारन के उपयुक्त
रणोचित वर भावों से युक्त।

अपर कक्षासीना चुपचाप—
बहिन सुनती थी सब आलाप,
हो चुका था उसको सब ज्ञात,
कि चम्पतराय जयी-कुल-जात।

हुआ जब से उनका अभिषेक,
निभाई ठकुराई की टेक।
आज दिल्ली का भी सम्राट—
मानता है उनसे विभ्राट।

कभी का दिल्ली से सम्पर्क,
हो चुका उनके द्वारा तर्क।
करद था जो कि ओरछा तन्त्र
भोगता आज वही स्वातन्त्र्य।

अभीप्सित मिला मुझे दाम्पत्य
और अप्रतिम सुहाग साम्पत्य।
उसे यह गौरव मय अभिमान
तपस्या का प्रतिफल—वरदान,

सदृश था मिला आज यह देख-
हृदय में पुलकित थी सविशेष।
शीतला को भी थी सन्तुष्टि
उसे अपनी ईर्ष्या की इष्टि—
पूर्ति का साधन मिला अलभ्य।
और क्या वाञ्छ्य उसे उपलभ्य?

भाभी थी आनन्द विभोर,
भाई को था हर्ष अथोर।
स्वयं बनी थी घन का मोर,
थे कारण सबके सब ओर।

३

विधे अहो ! हो धाता तुम्ही,
भली और बुरी के ।
किसकी विश्रुत नहीं कृत्य—
तव विषम चातुरी के ।

कुछ थे ऐसे योग भिड़े—
जिससे बुन्देला चम्पतराय,
राज्य पहाड़ सिंह को देकर
आप रहे दिल्ली में आय ।

शाहजहाँ का यौवन तप कर
अब तपता था अन्तिम काल,
और शाहज़ादा दारा थे
राज्य-कार्य को रहे सम्हाल ।

जहाँ नाथ है तुष्ट वहाँ
सब भाँति अनुचरी सदा प्रसन्न।
"फिर क्यो देख रहा सुमुखी !
मै तुमको आज विषण्ण विपन्न ?

आकर यहाँ कहो सारन क्या
भूल चुकीं अपना अनुराग ?
बीड़ा भी तो नहीं खिलाया
नही सँवारी तब से पाग।

सोभमुखी हाँ तुम्ही कहो न
तब से सोम-सुरस का पान
कभी कराया भी भूले से
या कि सजे तन पर परिधान ?

है विषाद मय यह परिवर्तन
कैसा कुछ भी तो हो भान
प्राणाधिके, प्रणय लतिका तो
नहीं हो रही है अब म्लान ?

सुनना था इतना कि हृदय—
भर आया जलका खारी नीर
"नाथ चाहते हैं जो उत्तर
शोक नहीं वह दासी तीर।"

कह कर मौन हो गई रानी,
पर राजा को इससे तृप्ति—
हुई न रंचक, लगे संजोने—
कारण वे होकर विक्षिप्त।

उधर भर चुका था मानस-घट
उमड़ पड़े उसमें से भाव,
"स्वामि सत्य ही चित्त-वृत्ति में
हुआ न जाने कैसा घाव!

खिलूँ कमल सी बहुत चाहती,
करती भी मैं विविध प्रयत्न,
किन्तु शिथिल सा हुआ हृदय—
बैठा जाता है स्वयं सयत्न।"

था बुन्देला आज चुहल मे
सूझ रहा था उसे प्रमोद,
उसने सोचा, है रानी का—
मान-विहित यह नया विनोद।

कहने लगा, अतः रानी!
कुछ नहीं तुम्हारी केवल भूल
और नही हो सकता है इस—
दैन्य-भाव का कारण-मूल।

मैं जानना चाहता हूँ—
वह कौन स्वर्ग सुख, जिसका लोभ
पूरा हुआ ओरछा मे पर—
यहाँ अभाव दे रहा क्षोभ ?

'अहो क्या कहा ? कौन स्वर्ग सुख ?
और बताऊँ मै ? क्यो नाथ ?
अच्छा सुनो, किन्तु सुनने का
साहस भी है प्रियतम, साथ ?"

× × ×

देखी राजा ने रानी की
ओजमयी वर-शोभन - कान्ति,
दीप शिखा को निष्प्रभ करके
उगल रही थी अद्भुत कान्ति।

आँखों के दोनों शीशो में
थी न वहाँ मोहक हाला
पड़ी दिखाई उनको उनमें
उठती एक ज्वलित ज्वाला।

मीठे मीठे प्यारे सपने
बिगड़ गये आते आते,
अरमानों के मादक प्याले
लुढ़क गये आते आते।

रंग भंग हो गया, नशा अब—
उचक गया था भूपति का।
हुआ प्रेयसी द्वारा स्वागत
यों अपने प्रेमी पति का।

"नाथ ओरछे में क्या थी मैं,
और यहाँ क्या हूँ ? यह बात—
मुझ से है ज्ञातव्य अहो तो—
सुन लें विमल-आर्य-कुल-जात !

'राजा की रानी होकर' मैं
रही ओरछा मे हे कन्त !
आज यहाँ जागिरदार की
चेरी बन कर हूँ हा हन्त !

जिसे आज आदर से नत हो—
अपना शीश झुकाते आप,
वह भारत सम्राट आप से—
क्या न पा रहा था भय-ताप ?

रानी से चेरी बन कर भी—
होऊँ सुखी चाहते नाथ ?
तब तो ऐसे सुख-विलास से—
खींच चुकी यह दासी हाथ !

यह 'पद' वा विलास की चीजें'
सब कुछ देकर ली है ओह!
क्या न इन्हीं महँगे दामों ने—
बढ़ा दिया है इतना मोह?

देखो वह कपोत-माला
हँसती है प्रिय के हालों पर—
कीर तरस खाते मैं प्रियतम,
आज तुम्हारी चालों पर।

फक्कड़ चुन चुन कर रहते हम
आजादी मे सदा मगन!'
'रहना पड़े न सोने के पिंजरा में
बँधुआ बन भगवन्!'

इनकी तो ये अभिलाषाये!
और आपका यों बहना?
इन आजाद परन्दों से भी—
गिर कर हा कैसा रहना!!

अपनी वेत्रवती मे देखो
कितना उज्वल जल बहता?
क्या बँधुआ होकर भी प्रियतम!
इतना ही निर्मल रहता?

बँधुआ बना विन्ध्य ही देखो,
नहीं उचक अब पाता है!
जड़ की यह गीत ? फिर अपना-
पन्वन से कैसा नाता है?

राणा भी तो हो सकता था
भारत का वैभव - भोगी
फिर क्यों फिरा अरे वन-वन में
अलख जगाता वह योगी।

टुकड़े टुकड़े रोटी को हा
दुखिया बच्चे तरस गये
हरी घास की रोटी पर ही
उनके आँसू बरस गये।

मन का धनी किन्तु राणा था
था न तुम्हारा सा लोभी
क्षत्रिय क्या है ? पता चल गया-
था इसका अकबर को भी!

उसके चेतक की टापों से
धन्य राजपूताना है
एक वीर था वह हिन्दू पति
एक आप का बाना है!

नन्ही सी जागीर पा गये
गौरव सारा भूल गये,
हा, इन क्षणिक विलासों पर ही
मेरे प्रियतम फूल गये।

वह यथार्थ दर्शक " दर्पण है
उसमे देखे भी तो आप
क्या न दिखाई पड़ती उसमे
दास्य, भाव की गहरी छाप ?

क्या न आज उन्नत मस्तक पर
झलक रहा है दारुण दास्य,
क्या न आज मर्यादा का
हो रहा नाथ कड़ुवा उपहास ?

आज आप का शौर्य शेष है
उन्नत - भाल झुकाने मे !
नख से शिख तक हरे !
गुलामी का शृङ्गार सजाने मे।

फिर भी मुझसे पूछ रहे हैं—
कौन स्वर्ग-सुख ? जिसका लोभ-
पूरा हुआ ओरछा में पर—
यहाँ अभाव दे रहा क्षोभ !

× × ×

भूप सुन रहे थे नीरव थे
उन्हें भान यह हुआ वहाँ,
मानो किसी विशिष्ट शक्ति ने
उनको जाग्रत किया वहाँ।

धोखे में था मानों उनके
छू विद्युत का तार गया,
पैरो से चोटी तक उनका
हिल शरीर-संसार गया।

दृष्टि दोष मिट गया हट गया
आँखो से कुछ पर्दा सा,
उनके मुख से निकल पड़ा तब
'हाथ ओरछा की आशा।'

मातृ-भूति की प्यारी छवि
उनकी आँखो मे भर आई
फिर वह दीन मलिन वदना सी
दुखिया चित्रित हो आई।

मानो कहती "लाल तुम्हारे—
पूर्व जनों का धर्म न था,
जिसे आज तुम आचरते -
यह कभी तुम्हारा कर्म न था।

आओ मेरे पूत, तुम्हें—
छाती से लगा जुड़ाऊँगी,
अपनी संचित मनुहारें ले
तुम पर बलि-बलि जाऊँगी।

मेरे उर मे लाल तुम्हारे—
लिये छलकता पय मीठा,
आओ एक बार आस्वादन
कर लो फिर मीठा मीठा।

आज तुम्हारे बिना हमारी
कैसी दशा हुई देखो,
बेटा, आओ आकर, मुझ –
अपनी दुखिया माँ को देखो"

× × ×

भूप रो पड़े मातृ-चित्र ने
कर दी निर्मल दृष्टि वहीं
तन्द्रा उनकी गई हो गई
नव जाग्रति की सृष्टि वहीं।

आज उन्होंने पढ़ी सजग हो
उस देवी की मर्म व्यथा
और व्यथा में मातृ-भूमि की
पढ़ी उन्होंने मर्म-कथा।

आज ओरछा के चिन्तन ने
रुला बुन्देला को डाला,
क्या जाने रानी ने कैसा
पिला दिया गहरा प्याला !

पति ने पत्नी को पहिचाना
उसका उच्चादर्श विलोक,
गद्गद हुआ प्यार से उसने
उसे भर लिया अपनी ओक !

!

नीरव निशा सो रही थी,
कोकी खेद खो रही थी।
पा मयंक वद थी विकसी,
सारन भी प्रिय-बाहु कसी--
परमानन्द विभोरा थी,
चम्पत - चन्द्र - चकोरा थी।

४

गये हुये दिन फिर फिरते हैं
आज ओरछा के फिर भाग्य-
फिरे, भ्रान्त सुत ने फिर से है
किया स्वजननी से अनुराग।

सुत ने जननी पहिचानी,
माँ की आज कसक जानी।
जननी भी सब भाँति सुखी,
बड़ भागा गर्वोन्मुखी,

सुत को लाड़ लडाती थी
फूली नहीं समाती थी
अहो बुन्देल खंड-महिमा।
तेरी यशोमयी गरिमा--

किसे न स्पर्द्धा देगी—
किसका हृदय नहीं लेगी?
तेरी गौरव ग्रथित कथा,
राष्ट्र-भावना-मयी, तथा--

ज्योत्सना सी रम्य भली
शुभ्र यथा हो कुन्द कली
शोणित पीकर जो कि पली
अपने पथ से कब विचली ?

बुन्देलों का खड अहा !
कितना गर्वोद्दण्ड अहा !
कण-कण मे बलिदान भरा,
वीरों का अभिमान भरा,

वीर वंश का मान भरा,
शान गुमान महान भरा।
हुये यहाँ नर-मेध घने,
सदा गर्व के ठान ठने।

भाल आज भी उन्नत है
उसका गर्व समुन्नत है
आज निहाल ओरछा है
हर्षोत्फुल्ल ओरछा है

उस जैसा सुख मिला किसे
खोया धन है मिला उसे
उसके राम आ गये हैं
सौख्य-वितान छा गये हैं

ध्वनि से धुनी गा रही है
प्रकृतिच्छटा छा रही है।
भूप-सौध आमोद भरा—
वह देखो कितना सुथरा।

उस जैसा धन किसमें है
जग का वैभव उसमें है
रानी मोद भरे मन में—
तितली थी गृह कानन में।

विश्व-निकाई तन पर थी
गहरी ममता मन पर थी
स्मित मंजु वदन पर थी
फूली हँसी रदन पर थी

मानो नदी नवेली ने—
और प्रकृति अलबेली ने—
रानी का वह छीन लिया,
जो विषाद था गया दिया।

उसके मुख की अब लाली
हुई अनोखी द्युत वाली
अरे आज दिल्ली वाली
राहु-ग्रस्त-शशि-उजियाली!

आकुल मलिन खेद वाली !
चिन्तित मूर्ति भेद वाली !
सहसा कहाँ विलोप हुई ?
'वेत्रवती मे लोप हुई।

राजा की विलास प्रियता !
शोचनीय वह निष्क्रियता !
नित्य नित्य के गाने वे !
नृत्य नृत्य मनमाने वे।

सहसा कहाँ विलीन हुये ?
'वेत्रवती में लीन हुये।'
अरे बदल सब साज गया,
बदल विलास-समाज गया।

नित का वह आदाब गया,
'हाजिर' और 'जनाब' गया।
सब के सब ये गये कहाँ ?
'वे वती का गर्त जहाँ।'

।

गई तमिस्रा घोर महा
प्रातर्वेला हुई अहा
कलित-कीर्ति आकृष्ट हुई.
भद्र-भावना हृष्ट हुई।

५

शुभ्र-चन्द्रिका छिटक रही थी, धवल धरा थी।
विश्व-निकाई लेकर मुखरित वसुन्धरा थी।
नील-निलय से ज्योत्सना का निर्झर झरता,
तम से मलिन विश्व-पट को था निर्मल करता।

बासन्ती-उन्माद-भरा से भरा समीरण वाहित था,
था प्राणशक्ति से—प्लावित कण कण।
क्षण-क्षण पर कोई आदृष्ट प्रेरित करता था,
प्यार के लिये एक दुराग्रह सा करता था।

दृश्य-मुग्ध दम्पति न इस समय तक सोये थे।
नैश-प्रकृति की छटा—देखने में खोये थे।
नृप ने देखा धवल-अम्बरा वेत्रवती को,
कर पीड़ित कर किया प्रबोधित प्राण-सखी को।

"भद्रे ! कितनी शान्त आयगा की धारा है ?
उभय फूल के बीच दृश्य कितना प्यारा है ?
दिन-दिन भर अविराम ऊर्ध्व-गति-गामिनी प्यारी,
सोती कैसी अहो बेतवा है मुदकारी।

मेरे दोनों बाहु बनें दो फूल निराले।
और, बहो तटनी बनकर इनमें तुम वाले !
प्रणय-सिन्धु मे मिलने की हो फिर तैयारी
क्यों न बात यह रुचिकर है तुमको भी प्यारी !"

विहँस उठी—हर्षातिरेक से, बोली रानी
"हाँ कितना सुन्दर होगा उस सरि का पानी ?
प्रिय-भुज-तट में बन कर मैं सरिता सुखकारी -
लोक के लिये होऊँगी मुद मंगलकारी।

जन-खग मृग नग और, विटप पशु; सब सुख पावे।
हम से होवे हरे भरे सरसें हरषायें।
जीवन अपना, हो न स्वार्थ के लिये हमारा,
हम जग के हों, और जगत हो अपना प्यारा।

वेत्रवती ने है किस की प्यास बुझाई !
गन्ध स्वार्थ की—कभी न उसको अब तक आई।
निर्मल जल सब के शीतल करने को लाती,
पीती है कब स्वयं ? लोक का हृदय जुड़ाती।

प्रिय की अभिलाषा है क्या, ऐसी ही सुन्दर ?
तब मैं इसके लिये प्राण से प्रस्तुत प्रियवर !"
भूपति हँसने लगे, उक्ति सुन कर—प्यारी की।
बोले; "तुमने समझ न पाई—मेरे जी की।

तटनी के फूलों पर देखो वे मन मारे—
बैठे है दो खग कितने दुखिया बेचारे ?
किस अदृष्ट का का शाप (!) इन्हे पीडित करता है ?
चक्रवाक बिछुलन की—आहे क्यो भरता है ?

चाहें तो क्या नही प्रणय की, राते पावे ?
बड़े हठीले एक दूसरे को कलपावे।"
"प्रियतम ! अपनी आन नहीं खग जग भी छोड़े,
कितना भारी त्याग ! रात्रि मे जोड़ा फोडे।

और मनुज होकर भी—हम इतना गिर जाये !
ध्येय छोड़ कर यथान्तरित इतना हो जाये ?
जिस सुख को मानव सर्वोतम मान रहा है,
चकवा-दम्पति कर उसका अपमान रहा है।

और निभाता मान-आन का; हठ सा ठाने।
कोई गौरव भरा—त्याग इनका पहिचाने ?
मिलन-रात्रि होती हो कितनी ही सुखकारी।
पर, महत्व कब देता उसको गौरवचारी !

स्व-प्रवाह में ले जाता है मोहावर्तन।
मानव को कर्तव्य मार्ग से करता उन्मन।
हमको पहले ध्येय! ध्यान फिर पर का आये।
आर्य! क्षात्र-सम्मान न क्षत्रिय कभी भुलाये।"

"तो मानूँ मैं यह कि आन है नदी तुम्हारी!
चक्रवाक के तुल्य और है स्थिति हमारी!"
"हाँ प्रियतम! कर्तव्य-निशा पूरी होने पर;
ध्येय-प्राप्ति का स्वर्ण-प्रभातोदय होने पर—

हम लोगो का प्रणय-मिलन का दिन होता है,
इससे पूर्व न क्षीण नियम-बन्धन होता है।
जब कि हठीले खग भी! गौरण से परिचित हैं।
फिर हम मानव? ध्येय हमे तो पुरुषोचित है।"

सुस्मित नृप ने कहा "अहो सारन! सच मानो
लगती है प्रिय बहुत ठान जो भी तुम ठानो।
सुतनु! तुम्हारे लिये हमे अभिमान बड़ा है,
तुमने मेरे गौरव में सौन्दर्य भरा है।

संसृति के व्यापार शुभे! यद्यपि सुखकारी—
पर मानव-कल्याण-हेतु हैं बन्धन कारी।
तब? यथार्थ तो यह कि—न मानव दानव होवे
सौम्य भाव में भरा निरा वह मानव होवे।

आने पावे नहीं भावनाओं में अन्तर।
मानव, मानव-मात्र से करे प्यार निरन्तर।
सब, सब के प्रति प्यार हृदय में भरे हुये हों।
सब के हित सद्भाव भाव से भरे हुये हों।

प्यारे प्रियतम से नित नव अनुराग बढ़ायें।
लौकिक सुख के साथ अलौकिक को भी पायें।
होना तो चाहिये 'यही सुन्दर' इस भू पर।
पर, मानव बन रहा आज है एक बवंडर।

यह पीडक अविचार पूर्ण घातें करता है।
हा! जीवित रहने के लिये मरा करता है।
दलित बना कर एक एक को, ऊपर उठता।
हत! मानव मानव के हाथों से यों लुटता।

मद में होकर चूर, बढाता कोई सत्ता।
वैभव-मय-साम्राज्य-शक्ति सत्कीर्ति-महत्ता।
पतन एक का, होता है उत्थान अपर का।
दैव! बन रहा ध्येय आज है यह इस नर का।

इसने ही साम्राज्य-भावना को—पनपाया।
मानवता को इसने ही कच्चा घर खाया।
हर कोई चाहता अपर को मैं खा डालूँ।
और प्राप्त-सत्ता से अपना पेट बढा लूँ।

मानव की इस ही अतृप्त इच्छा का फल है ।
गरजा करता जो कि समर मे दल-बादल है ।
फिर भी, इच्छा पूर्ण न होती जेता जन की ।
बढ़ती ही जाती अभिलाषा पाजी मन की ।

पाता चैन न विश्व बज रहा लोहा रण मे ।
समझेगा हे प्रभो, न जाने यह किस क्षण मे ।
यदि सब को समभाव सहित यह मानव देखे ।
बान्धु-भावना से साथ मे अपनापन देखे—

एक अपर के सुख से मन मे मोद बढाये ।
पर के दुःख मे साथी बनकर हाथ बँटाये—
एक दूसरे को आतुर हो कर अपनाये
और इसी मे जीवन का सच्चा सुख पाये—

कहो न प्रिय ! तब यह जग होता कितना प्यारा ?
बहती मंजुल जब कि प्यार की निर्मल धारा ।
द्वेष द्रोह ईर्ष्या का तब अस्तित्व न खलता
छीन झपट में कभी न कोई पर को छलता ।

"हाँ प्रिय ये सद्भाव आप के माननीय हैं ।
पर मानन के भाव तो सदा माननीय है ।
देव नहीं बन सकता वह ।" "पर दैत्य भी न हो ।"
"और दैत्य यदि बने ?" "तो उसकी उचित अगति हो ।"

"हाँ अवश्य प्राणेश ! यही तो मैं कहती हूँ।
और अनय के शमन हेतु प्रस्तुत रहती हूँ
कोई भी पीड़ित आकर जब हाथ पसारे ;
प्रिय समुचित तब यही कि उसको सपदि उबारे

और इसी में क्षात्र धर्म की सफल कहानी
दुर्बल का हो त्राण प्राणहत हो अभिमानी।
दया अहिंसा क्षमा मनवोचित सद्गुण हैं ;
पर अपात्र के साथ आचरण मे अवगुण है।

अन्ध-अहिंसा कायरता कहलाती प्यारे !
यदि स्वतन्त्र करती हो वह हिंसक हत्यारे।
दया-भीरु हम लोगों को यह कुफल मिला है
अपना प्यारा देश हाथ से गया चला है

और आज भी यदि भूले हम दुहरायेग —
तो समझो हम और दूर होते जायेंगे।
राजा का उपयोग है कि, वह —शासन धारे।
अनय और अत्याचारों का कष्ट निवारे।

कर लेकर उपयोग प्रजा के हित में लाये
सुख समृद्धि विद्यादि राज्य से सतत बढाये।
किन्तु वही राजा यदि हो जावे अविचारी,
निपट निरंकुश-शोषण कारी-मिथ्याहारी—

और प्रजा को लगे मानने सुख का साधन,
बन जाय जो भार स्वार्थ का कर आराधन—
उस नृप के प्रति धर्म यही विद्रोह खड़ा हो,
और प्रजा-पद-तल में उसका ताज पड़ा हो।

हम राजा हैं राजोचित-कर्तव्य गहेंगे
हम स्वदेश के प्राण, देश के साथ रहेंगे।
प्रजा हमारी हम उसके धन बन जायेंगे।
दुख से सुख से सदा उसी के कहलायेंगे।

कौन हमें अलगा सकता है इस जीवन मे?
देश और जनता बसती है तन मे मन मे।
क्षात्र-धर्म का मर्म 'मिटो-मर कर जी जाओ।'
पर न कभी अविचारी-सम्मुख भाल झुकाओ।'

देश और गौरव पर मर कर मिट मिट जाना,
हम लोगो का रहा सदा से अमिट निशाना
जो भूले हैं इसे ठोकरें वे खाते है
फिर भी वे वेशर्मी से अकड़े जाते हैं।

उनको यह कड-दशा क्या न कुछ भी खलती है?
स्वाभिमान की लौ न हृदय मे क्या जलती है?
क्या भारत का रक्त नहीं तन मे पानी है
पानी भी हो यदि तो बात फिर कब जानी है।

पानी वाले प्राण आन पर दे देते हैं
स्वाभिमान का मान न पर जाने देते हैं।"
नृप सुनते थे और मोद मन मे भरते थे
प्राण सखी पर गर्व गर्व से वे करते थे।

और गगन से चन्द्र देव मुखरित किरणों से
प्राण भर रहे थे भू मे मृदु उपकरणों से।
कहते थे सप्तर्षि भी कि हॉ ध्रुव पहिचानो
जो भी ठानो ठान पूर्ति उसकी ध्रुव ठानो।

६

कई महीने बीत चुके थे,
विलासिता-घट रीत चुके थे।
बुन्देले आमोद भरे थे,
सब के अपने भाग्य फिरे थे।

पाँच रानियाँ राज महल मे—
बिरह रही थी चहल-पहल में।
पर उनमे वह रंग नही था,
दिल्ली वाला ढंग नहीं था।

भूप हृदय में जान चुके थे,
स्वपूजिका पहिचान चुके थे,
मन में दे स्थान चुके थे।
कर उसको दिल दान चुके थे।

यद्यपि स्नेह निभाते थे वे
सब का आदर पाते थे वे
सब का मन बहलाते थे वे
सब का मोद बढ़ाते थे वे।

पर था हृदय एक ही उनको—
मिला, अतः देते किस किसको।
वह सारन का वित्त हुआ था,
भक्त युक्त वह न्यस्त हुआ था।

सारन ही आराध्य उन्हें थी,
वही अकेली साध्य उन्हें थी,
वही मन्त्रणा का साधन थी,
तन थी, मन थी सुन्दर धन थी।

गये उसी के पास आज जब वे गंभीर थे,
मुख मुद्रा से किन्तु झलकता था अधीर थे।
शहजादों का पत्र हाथ में खुला हुआ था,
उसका ही प्रभाव सा उन पर पड़ा हुआ था।

थी उनको कोई उलझी गुत्थी सुलझाना,
और समस्या 'अथ' से 'इति' तक सरल बनाना।
इसीलिये सामीप्य लाभ कर निज प्यारी का—
मुद-दात्री सम्मान-गर्विता वर-नारी का—

बोले "हे कमलाक्षि, मुहीउद्दीन बेचारे—
हुये सहायातपेक्ष आज है, दुख के मारे।
सुना उन्होंने पिता-रोग का वृत्त-भयंकर—
त्योंही सहित मुराद राज्य पर आये सजकर।

राज्य-लाभ का लोभ उन्हें दक्षिण से लाया,
भारत का सम्राट बनूँ यह लोभ समाया।
किन्तु धौलपुर निकट विकट प्रतिद्वन्दी पाकर-
हत-आशा युग-बन्धु बेचारे कर फैला कर—

लिखते हैं निरुपाय मुझे ओ कुशल खेवैया।
ख़ुदा के लिये पार लगा दो मेरी नैया।
कहो इस समय प्रिये किस तरह के उत्तर से,
काम चलाऊँ या कि लड़ूँ उस बल बत्तर से।

इधर मुहीउद्दीन-मुराद उधर दारा है,
ये विद्रोही और पिता का वह प्यारा है।
भारत भर मे शक्ति उसी की आज व्याप्त है,
सारा सबल शाहजहाँ का उसे प्राप्त है।

विपुल वरूथिन राजकीय को ले कारण में,
डटा हुआ वह भी चम्बल प्रांगण में।
'फिर क्या करिये मदद'' किन्तु यह महँगा सौदा,
दारा से तलवार माँगना! कठिन मसौदा!!'

ान का नृप को वीड़ा,
हीं करों मे है अब व्रीडा।
ीति की उच्च पताका,
आज भारी लज्जा का।

ा-वदन पर सुस्मित रेखा,
या वहीं समझा सब लेखा।
न मधुपी को आज मिला था,
-मनसुमन सा आज खिला था।

ा उमंग से झूम रहा था
ह्लाद अनूठा घूम रहा था।
ा-घटा किले से काली उठ कर—
सी पहुँची चम्बल के तट पर।

न हुये शाहजादो ने ज्यों ही—
दला-चमू हुये आशामय त्यों ही।
ं समाते थे, हर्षार्णव उनका—
को मिति तोड रहा था होकर मनका।

' उनका कृतज्ञता से प्रपूर्ण
का वह भारण्ड उन्हें घर
त बादल जै
र वेग

और हमारे वीरों की कल-कीर्ति-कहानी—
अमर रहेगी, पूत बनेगा चम्बल-पानी।"
"निश्चय ही उन्नत विचार की है वर धात्री।
मान्य मन्त्रणा मुझे तुम्हारी यह यश दात्री।

दयित प्रणत की टेर प्रिये इस अवनीतल पर
कल्य सुनेगी बुन्देलों की असियाँ खर-तर।
सुनकर वञ्छित वृत्त चित्त मे कुलकी रानी,
दुर्लभ निधि सी प्राप्त कर चुकीथीकल्याणी।

चंचल भावो जैसे तारे छिपे निशा मे,
छाती फटने लगी तमी की पूर्व दिशा में।
और वहीं से लाल-लाल तमरिपु भी सहसा,
दृढ़ विचार का पक्का गोला सा कुछ विकसा।

नृप ने उससे प्रथम उमंगित होकर सत्वर—
समग्र वृत्त दे किये सुसज्जित भट नर-नाहर।
पी प्रत्येक वर-वीर वीर-रस मद की हाला,
मत-करीसा झूम रहा था बन मतवाला।

मानो अम्बुज-नाल-अनी-अरि की खंडन को,
घर्षित हो सामर्ष कर रहा भुज-शुण्डन को।
रानी ने अपनी दोनों ही तनय बुला कर—
सिर सूँघे फिर गले लगाये मोद बढ़ा कर।

फिर वह देती हुई पान का नृप को बीड़ा,
बोली 'स्वामिन इन्हीं करों मे है अब व्रीड़ा।
बुन्देलों की धवल कीर्ति की उच्च पताका,
है करस्थ तव भार आज भारी लज्जा का।

स्वीकृति-सूचक भूप-वदन पर सुस्मित रेखा,
खिंच कर मानों दिया वहीं समझा सब लेखा।
मन माना मधु उस मधुपी को आज मिला था,
उसका कलिका-सु-मन सुमन सा आज खिला था।

अंग-अंग उसका उमंग से झूम रहा था
नस-नस में आह्लाद अनूठा घूम रहा था।
उधर घनी घन-घटा किले से काली उठ कर-
वातालोड़ित सी पहुँची चम्बल के तट पर।

धीरज खोये हुये शाहजादो ने ज्यों ही—
लखी बुन्देला-चमू हुये आशामय त्यों ही।
फूले नहीं समाते थे, हर्षार्णव उनका—
परिमित को मिति तोड़ रहा था होकर मनका।

रोम-रोम उनका कृतज्ञता से प्रपूर्ण था;
अरि-मद का वह भाण्ड उन्हें अब सहज चूर्ण था।
दारा का दल बादल जैसा घुमड़ रहा था,
शस्त्र वृष्टि का वेश वेग से उमड़ रहा था।

चपला सी असि-धार चपल चापल्य दिखाकर-
हो जाती थी लीन वही अद्भुत बल खाकर।
अश्व रहे थे भूमि खोद अपनी टापो से—
या जाना वे मुक्ति चाहते थे पापों से।

जन-रव का बाहुल्य व्योम मे व्याप रहा था,
वन्य जीव प्रत्येक भीत से काँप रहा था।
नृप ने मानों उन्हीं दीन दुखियो की पीडा,
हरने को है रची आज यह समर-सुक्रीड़ा।

भूमि वहाँ की अंगुल-अंगुल उन्हें ज्ञात थी,
परिस्थिति अनुकूल वहाँ की सभी भाँति थी।
अतः उन्होंने बुन्देलों की सेना चोखी—
छिपा आड़ मे, चली समर की चाल अनोखी।

शहजादों की सैन्य साथ में लिये बढे वे
पश्चिमोन्मुख नदी किनारे सपदि बढे वे।
दारा ने देखा कि और ही किसी घाट से,
शत्रु उतरने चला दूसरी किसी बाट से।

अतः मोरचे अपने भी तब शीघ्र हटाकर—
मार्ग-रुद्धन्च के लिये चल पड़ा वह पीछाकर।
यही स्वर्ण अवसर बुन्देले चाह रहे थे।
छिपे हुये इसको ही वे अवगाह रहे थे।

निकल पड़े वे और नदी में अपने घोड़े—
बिना अपेक्षा किये किसी की निर्भय छोड़े।
उधर ओरछाधिप ने भी उदभ्रान्त बनाकर,
शहजादे को खूब छकाया खेल खिलाकर।

और आमिले चकमा देकर अपने दल में,
विकट मोरचा विफल बना डाला यों पल में।
केवल घटे सात लगे इस कठिन चाल में,
किन्तु ठगे वे गये बड़े, इस चतुर चाल में।

उनके सच्चे शूर सात सौ भू-लुण्ठित थे,
खरे बुन्देले वीर आज बिल्कुल कुण्ठित थे।
एक दीर्घ निःश्वास भूप का हृदय चीर कर—
निकल पड़ीउस कालउन्हेंसहसाअधीर कर।

वे तड़पे उठे, उन्मत्त क्रोध—
उनका फुत्कार उठा क्षण में,
जन-जन मे भैरव रोष जगा
फिर आग जगी पल में रण में।

थी भभक उठी रण की ज्वाला
फिर चेत उठी रण की चंडी,
फिर मार मार की कोलाहल से
गूँज उठी वह वन-खंडी।

बुन्देले खर असियाँ निकाल
करवाल सूँत लेकर भाले
जय जय हर हर जय महादेव
कह, कूद पड़े वे मतवाले।

प्रतिशोध हृदय का भभक उठा,
उनकी बदले की आग जगी;
शोणित सरिता से भी न बुझे-
ऐसी भीषण वह आग जगी।

जिस ओर झूमि झुक गये उधर
मैदान साफ हो जाता था
भागो बुन्देले आ पहुँचे—
कुहराम यही छा जाता था।

घुस पड़े शत्रु के दल मे वे
लोहित भालो को तान तान,
जिस रिपु को पाया छेद लिया
ले लिये सहज मे खींच प्राण।

'सम्हलो' कह कर जैसे जोड़ा
भाले ने जाकर छेद लिया,
जीवन के अन्तिम क्षण का झट
समझा उसको सब भेद दिया।

वह फिर न साँस को तोल सका
बस मौन विदा हो जाता था
भागो बुन्देले आ पहुँचे—
कुहराम यही छा जाता था।

विष बुझी कटारों से रिपु को
वे फाड़ डालते थे क्षण में
निर्मम निष्ठुर संहार क्रूर
वे आज कर रहे थे रण में।

असियाँ उनकी लपलपा उठीं
सिर पर पवि सी फिर टूट पड़ीं
रिपु शोणित पी कर हटीं और
दूसरे के लिये छूट पड़ीं।

हहकार उठीं प्रलयङ्कार सीं
दल काई सा फट जाता था,
सम्हलो बुन्देले आ पहुँचे
कुहराम यही छा जाता था।

कर कलम किसी का किया,
किसीकाबाहु मूल से उड़ा दिया
लग गई किसी के गले और
सिर धड़ से उसका छुड़ा दिया।

जब गिरीं किसी के सिर पर तो–
तन दो टुकड़ों मे बाँट दिया,
तिरछीं होकर कौतूहल से
कटि-तट-प्रदेश ही काट दिया।

थीं साँपिन सी फुत्कार रहीं
भय से बैरी थर्राता था,
भागो बुन्देले आ पहुँचे—
कुहराम यही छा जाता था।

थीं प्यासे नहीं बुझीं उनकी
रिपु के लोहू को चाट चाट,
अम्बार उन्होंने लगा दिया
बैरी के दल को काट काट।

वे निकलीं घुसीं घुसीं निकलीं
मुग़लों की छाती चीर चीर,
वे हँसी व्योम में, छपक पड़ीं
फिर ढेर कर दिये शूर-वीर।

जिस ओर लपक कर जाती थीं
उस ओर विजन हो जाता था
भागो बुन्देले आ पहुँचे,
कुहराम यही छा जाता था।

युद्ध-चित्र

बुन्देला वीरो का महाराज चम्पतराय के नेतृत्व मे भीषण मारकाट, दारा-पक्ष का भी डटकर सामना

L. J PRESS, ALLAHABAD

ओरछा नृपति, वह वीर सुभट,
दाँतों में हय की वाग थाम,
दोनों हाथों में महा काल—
करवाल-कालिका-मूठ थाम—

उन्मत्त बना कर्त्तन करता
घुस गया शत्रु के संगर में,
सब काट-काट कर पाट दिये
जो पड़े सामने सगर से।

वह गया भूप, वह गया भूप
ये गिरे वीर, वे मरे शूर,
थी चेत गई चंडी उसकी
रिपु लगे भागने दूर-दूर।

जौहर की भरी जवानी थी
खुल खेली आज रणालय में,
लोथों पर लोथ जमा कर दीं,
उसने लोहित वरुणालय में।

× × ×

कुछ बुन्देलों का विकट काट
कुछ भूपति का उन्मत्त रोष।
डट सकी न दारा की सेना—
सुन कर 'जय हरहर' महाघोष।

तब देख पलायन सेना का
दारा ने अपना करी बढ़ा—
ललकार पुकारा वीरों को
उनमें समरोचित चाव चढ़ा।

"वीरों दुश्मन का आज अरे
हौसला बढ़ा डाला तुमने,
अपनी बहादुरी मे कैसा—
यह दाग़ लगा डाला तुमने ?

मर मिटो न पीछे हटो अरे
लो दुश्मन का पानी रोको,
आबरू आगरा की रख लो,
लो इनकी शैतानी रोको।

कह सके न कोई शाहंशाह की
फौज यहाँ से हार गई,
कह सके न कोई देहली को
बुन्देल खंड से हार गई।

लौटो लौटो मेरे शेरो !
है तेग़ तबर की आन तुम्हें,
जी लो, जी लो, मर कर जी लो,
जीने पर रहे गुमान तुम्हे।

है आज तुम्हारा बादशाह
बीमार पड़ा बेजार पड़ा,
वह पड़ा तुम्हारे लिये, लिये,
अपने मन में अरमान बड़ा।

बेवफ़ा न कर देना बूढ़े से
दग़ा न कर देना वीरो!
बढ़ चलो, बढ़ चलो दुश्मन के
हौसले बढ़े चीरो वीरो![33]

इस तरह बढ़ाकर वीरों को
दारा ने रण में रेल दिया,
उनका प्राणों-का मोह भगा
जलती ज्वाला मे ठेल दिया।

फिर हू-हू कर तप उठा रणानय
मार-काट का भूत जगा,
भिड़ गये घहर कर दोनों दल
रण का भैरव अवधूत जगा।

झुरमुट झंझा झकझोर जगा
बाँबी के काले नाग जगा
नागिनें म्यान से निकल जगीं
भाले तन तेवर तान जगे।

रण जाग उठा गण जाग उठे
व्रण जाग उठे लाखों तन मे,
मर मिटने को सब जाग उठे
अनुराग भरे अपने मन मे।

सोया अन्धड़ फिर जाग उठा
घनघोर घनाघन जाग उठा,
बिजलियाँ व्योम मे जाग उठी
रव-शोर खनाखन जाग उठा।

कुन्तों के जौहर जाग उठे—
खर विशिख-शिखायें जाग उठीं,
रण मे शूरों की तलवारें,
दिन में उल्का सीं जाग उठी।

वे ज्योंही बाबी से निकलीं
दक्षिण भुज मे भर रोष गया,
तमतमा उठे गरबीले मन
मन में मन भर भर जोश गया।

तब प्राण बचाने को ढालों ने
अपने सीने खोल दिये
उन्मत्त रोष ने अन्धे होकर
वार उन्हीं पर तोल दिये।

फट गईं, छातियाँ दरक गईं
कब रुकती बाढ़ दुधारों की।
किसके सीने हैं चोट सहें
जो तलवारों के वारों की।

करवाले ढालें फाड-फाड़
लेतीं थी तन से प्राण चाट
बढ़ती थीं फिर छप-छप आगे
वे मृत्यु-विवर को पाट-पाट।

बरछे कटारियाँ कुन्त फाल
को दंड-चड उन्मत्त वाण—
कर खंड-खंड उद्दंड भटो के
खींच रहे थे खड्ग प्राण।

वे ज्योंही निष्ठुर जीभ निकाले
कालकूट से टूट पड़े,
उत्तान गिरे कुछ मुँह के बल
जिन जिन के सिर पर टूट पड़े।

भालों के फाल पड़े कस कर
घुस गये वक्ष को चीर, पार
चीत्कार एक फिर करुण शान्ति
गिर पड़े वाजि से हय-सवार।

बल प्रबल भुजाओं का लेकर
घुस गये करी का कुम्भ फाड़
मद पान कर लिया निकल पड़े
दिग्गज गजराजो को पछाड़।

बिछ गई लाश पर लाशें तब
दोनो पक्षों का काट हुआ,
मेदिनी रक्त मे डूब गई
ऐसा संसार विराट हुआ।

उन करवालों का मुक्त कोप
उन भालो का बेधडक रोष
भू पर लाशों की क्षीण शान्ति
नभ पर शूरों का भीम घोष—

वीरों में रोष जगाये था
मरने जा तेह चढ़ाये था
मर अमर बने यह लोभ-लाभ
धर धर कर उन्हें बढ़ाये था।

वे रौंद रौंद कर लाशों को
बढ़ते जाते थे वक्ष तान
आहत भट उनके पदाघात से
त्याग रहे थे क्षीण प्राण।

मरने वालों की पूछ न थी
मरने पर तुले हुये गए ये
जन जन के तन पर अनगिन व्रण
व्रण में उनके जीवित प्रण थे ।

वे अपनी एक इकाई दे कर
सुयश मोल ले जाते थे
अपने प्राणों का दाम चुका
वे स्वयं तोल ले जाते थे ।

सिर होड़ लगाये कटने की
करवालें उन्हें काटने की,
दोनों में होड़ ठनी गहरी
कटने की और काटने की ।

सिर से सिरोहियाँ खेल रहीं
थीं, एक-एक को छाँट-छाँट
लू-लुण्ठित कर-कर बढ़ती थीं
व्रण के प्रसाद को बाँट-बाँट ।

व्रण खाकर वीर बबकते थे
टेसू से फूले फिरते थे,
उनके सिर पर से छहर-छहर
शोणित के निर्झर झरते थे ।

मुँह खोल खोल कर खोपड़ियाँ—
गह लेती दाढ़ सिरोही की,
फिर वमन रक्त को करती थीं
जब खिंचती बाढ़ सिरोही की।

सिर के सिरोहियों ने टुकड़े
लोहित सरिता मे बहा दिये,
कटि-बाहु-जाहु सब काट छाँट
कर शूर हज़ारों ढहा दिये।

पेश्यस्थि - मेद - मज्जा से वे
खिलवाड़ भयंकर करती थीं,
मानव-शोणित में छपक छपक
तरती वे और उछरती थीं।

वे तलवारें थी या प्रकोप
जिस पर वे छहर हहरती थीं
कच्चा ही उसे चबा जाती
भुट्टे सा शीस कतरती थीं।

हय मुंड कटे गज शुंड कटे
कल्ले कट गये बछेड़ो के,
गज भहर गिरे कट गये कुम्भ
उनके अति प्रबल थपेड़ों से।

त्रिकुटी पर भृकुटी चढ़ा सरूष
हुँकार उन्हे ज्यों ही झारा,
फूत्कार उठीं वे और लक्ष्य का
छुड़ा दिया ससृत-कारा।

यों रण मे जौहर-जहर घुला
था ज्वार, सिन्धु मे लहर उठा,
शूरों की अँगड़ाई मे था—
कुछ एक गजब का कहर उठा।

काली का और कपाली का
खुल गया सत्र समरांगण में
भूतों को और पिशाचों को
मनमाना भोज मिला रण में।

शंकर के गण थे आज मगन-
वे मत्त नाचते गाते थे,
भेजा-मज्जा-आँतें निकाल—
भर पेट नोचते खाते थे।

चम्बल की धारा रक्तिम थी
ऐसा भीषण संग्राम ठना,
भारत के सिंहासन पर था
दो पक्षों का यह ठान ठना।

था भाग्य-तुला पर कभी विजय-
पलड़ा दारा का झुका जाता,
फिर कभी मुहीउद्दीन-पक्ष में
नीचे आ कर रुक जाता।

विश्वास नहीं होता था किसका
खेत रहेगा आज यहाँ?
विश्वास नहीं होता था किसका
भाग्य जागेगा आज यहाँ?

अपराह्न ढल चुका थापश्चिम मे?
सूर्य ढल रहे थे क्रम-क्रम,
पर समर-भावना नही ढली थी
नहीं हो रही थी वह कम।

दिवसावसान आसन्न देख—
वे दोनों फिर गुरु-रोष धार—
भिड़ गये, जूझने लगे भयंकर-
मार-मार की कर पुकार।

फिर जगा भभूका सा भैरव
फिर एक बार रण हूक उठा,
फिर ज्येष्ठ मास का ज्वालानल-
फिर हा-हा कर वह लूक उठा।

फिर शस्त्रों पर ढलती रवि किरणें
आग लगा कर चमक उठीं—
फिर से खर धारें जहरीली—
नभ में दामिन सी दमक उठीं

कुछ भाग्य-योग कुछ समय-दशा
दारा का पत्त प्रचंड पड़ा,
पिल पड़ा समूचे संबल से
संगर में यह बरबण्ड बढ़ा।

आँधी सा सहसा हहर पड़ा—
प्राणों का दाँव लगा कर वह,
सोया सा विप्लव फूट पड़ा—
अपना पुरुषार्थ जगा कर वह।

टिक सके न बुन्देले तब तो—
उनका पौरुष-तरु उखड़ गया,
यों पलक मारते जय-आशा—
उद्यान भूप का उजड़ गया।

देखता मुहीउद्दीन रहा—
अपने दल की करतूत खड़ा,
दारा के शेरों की दहाड़
सुनता था वह अनमाना खड़ा।

उसका विजयार्क अर्क जैसा
देखते देखते डूब चला,
यश और परिश्रम भूपति का भी
साथ उसी के डूब चला।

जय भेरि बजा दी दारा ने।
तब तक अद्भुत व्यापार हुआ,
पश्चिमी क्षितिज से एक भयंकर
कोलाहल साकार हुआ।

यह एक उदग्र सिन्धु जैसा
था बुन्देलों का व्यूह बड़ा,
उसने दारा के विजय हर्ष से
किया तुमुल प्रत्यूह खड़ा।

था उसका झंझावर्तन ऐसा
विकट और निर्द्वन्द हुआ,
झकझोर हिला डाला, दारा का,
विजय-गर्व सब मन्द हुआ।

जिस तरह देख कर शार्दूल—
मृग-मृग छौने कातर अधीर;
भग कर छिप कर वे किसी भाँति
रक्षित करते अपना शरीर।

दारा का दल भी उसी भाँति
उस तम में भाग गया छिपकर
दारा का अरे भाग्य भी तो
उस तम मे भाग गया छिपकर

उसकी जय पर हो गया—
मुहीउद्दीन-पक्ष - विजयाधिकार,
जय भेरी तब तो भूपति की
बज उठी भीम-रव को पसार।

जय की हो गई पराजय और
पराजय जय मे बदल गई
यह दैवी घटना शहजादों को
'मदद गैब की' हुई नई।

"अल्लाह शुक्र, तेरे सदके
इम्दाद गैब से मुझे मिली,
दे दिये फ़िरिश्ते ये तूने
है इनसे मुझको फ़तह मिली।"

इस तरह मुहीउद्दीन, वहाँ
शुक्रिया ख़ुदा का करता था,
नृप भी इस विजय पहेली पर
आश्चर्य प्रदर्शित करता था।

पर कौन फिरिश्ते आये थे ?
संचालक उसका कौन भला ?
यह पता नही चल पाया था
दारा का किसने दर्प दला ?

विस्मय-मय एक पहेली था
यह जय, विस्मय की गुत्थी थी
सब पड़े हुये थे चक्कर मे
खुलती न किसी से गुत्थी थी ।

सब यही कह रहे थे, दैवी—
साहाय्य भाग्य से आज मिला,
यश मिला नृपति को अनायास
शहज़ादो को साम्राज्य मिला ।

इस ऊहापोह विचार बीच
सब वीरों ने सहसा देखा
है चला आरहा वाजि दपेटे
एक अनोखा अनरेखा ।

था वीर अंग से गठा हुआ
थे शाण चढे अवयव तन के
वीरों के मन मे घुस जाते थे
उसके भाव भरे मन के ।

क्षिति पर छहरी उसकी प्रतिभा,
थी छटा क्षितिज लौं ओप भरे,
वह विजय-मोद से मोदित था
मन में वीरोचित चोप भरे।

सामीप्य प्राप्त कर, भूपति को-
उसने नत विनत प्रणाम किया,
राजा ने आदर सहित वीर का
वीरोचित सम्मान किया।

वह बोला "नृपवर जय-लक्ष्मी
है आज तुम्हें सक्षेम मिली,
है दुर्जय दारा विजय हुआ
कल-कान्त-कीर्ति मय क्षेममिली।

यह सुखद सुपरिचित स्वर लहरी
उनका आमोद बढ़ाती थी,
उनके कानों मे मधुर-मधुर
मधु, नित्य नया बरसती थी।

था आज उसी स्वर लहरों में
जब यह सुन्दर संवाद दिया,
आश्चर्य हर्ष से गद्‌गद उन—
नृप को असीम आह्लाद दिया।

वह बोले "तुमसी लक्ष्मी ने ही
है मेरा जब साथ दिया,
आश्चर्य अरे क्या जय-लक्ष्मी ने
जो है आज सनाथ किया।"

यह मंजुल मोद-विनोद-काव्य-मय
भूपति ने मृदु-हास किया,
हँस उठे उपस्थित शिष्ट सभी
ऐसा मीठा परिहास किया।

देखा नारी का वीर-हृदय
देखा दुर्गा का भद्र-रूप
देखा सबने कमनीय सौम्य
उसमे अद्भुत साहस अनूप।

देखा सबने उस नारी में-
दुसर्षीचित दुस्साहस अपार
इस समय वही थी बनी हुई—
इस विजय-सौध का मुख्य द्वार।

यह सारन्धा थी जिसने अदम्य साहस से
आज भूप को बचा लिया कडुये अपयश से
वैरी क्षण भर सह न सका उसके प्रहार को
पीठ दे गया और ले गया साथ हार को।

अब रण मे रिपु के पक्ष के मरे अधमरे वीर ही—
थे पड़े रह गये भूमि पर मूच्छित मृतक शरीर ही।

सम-भूमि का दृश्य इस समय था करुणामय,
मृत्यु-अंक में सुभट सो रहे थे होकर लय।
कुछ ही पहले जहाँ सजे वीरों के दल थे,
फड़क रही थीं लाशें अब घायल बेकल थे।

हा नीच स्वार्थ में डूब कर, इस मनुष्य ने आदि से-
है खून भाइयों का किया मार-काट इत्यादि से।

जयी सैन्य अब लूट मार करने पर टूटी,
जिसे जो मिली चीज वहाँ वह उसने लूटी।
पहले थे जो मर्द जहाँ लड़ते मर्दों से,
अब थे वे लड़ रहे वहाँ नीरव मुर्दों से।

वीरत्व पराक्रम की जगह, अधम कृत्य था मढ़ रहा,
हा, था मनुष्य पशु प्रथम,अब पशु से भी था बढ़ रहा।

इसी लूट में शाही दल के सेनापति की,
व्रण-पूर्ण मृत प्राय लाश भी दिखलाई दी।
उसका घोडा उसकी रक्षा में सतर्क था,
बली बहादुर ख़ाँ को कर सकता न तर्क था।

वह अपनी प्यारी पुच्छ से, व्यजन-कार्य था ले रहा,
उस मूच्छित के उपचार मे सेवायें था दे रहा।

राजा चम्पतराय देख यह, उसे तुरंग पर—
मुग्ध हो गये जी से उसके अंग-अंग पर।
केहरि का सा वक्ष, कमर चीते की सी थी,
सभी भाँति निर्दोष अंग की भव्य गठन थी।

सुन्दर एराकी जाति का, अश्व बड़ा ही विज्ञ था,
वह स्वामि-भक्त प्रेमी-हृदय, भावुक-विशद बहुज्ञ था।

नृप ने बोधित किया सैन्य को उच्च स्वर से-
"सावधान! इस हय पर कोई वार न कर दे
जीवित ही ले पकड़ वरन धीरज दे करके,
पावे यह आराम यहाँ प्रेमी जी भर के।

यह हय मेरे अस्तबल की, शोभा अमिति बढ़ायेगा,
इसको जीवित जो लायेगा वह पुष्कल धन पायेगा।

सुन कर हय पर सुभट चतुर्दिक से तब धाये,
बन्दी करने के प्रयत्न सबने अजमाये।
साहस पर होता न किसी को था इतना भी,
पास जा सके जो करके पुरुषार्थ घना भी।

था कोई तो चुमकारता कोई उसे दुलारता,
फन्दा से भी फाँसने का यत्न रहा झक मारता।

सारन्धा को जब अवगत यह हुआ वृत्त सब,
बाहर वह आगई शिविर से निकल शीघ्र तब।
चली गई फिर अश्व निकट परिचित थी जैसे
किंचित भी तो हुई न वह आतंकित भय से।

उसकी प्रिय आँखोंमे भरा शुद्ध प्रेम का भाव था,
छल का प्रपंच का सर्वथा उसमें निपट अभाव था।

उसको तब अवलोक होगया शान्त तुरग वर
झुका दिया सिर उसके सम्मुख उसने सत्वर।
रानी न सस्नेह पीठ उसकी सुहलाई,
और हृदय की वत्स-स्नेह महिमा दरसाई।

फिर रास पकड़ कर अश्व की शिविर के लिये चल पड़ी,
थे सभी देखते रह गये यह विचित्र घटना बड़ी।

घोडा यों चुपचाप हो लिया उसका अनुगत
मानों सेवक हो उसका वर्षों का अवगत।
किन्तु भला होता यदि पहला कटु स्वभाव ही
सारन्धा से भी रखता हय शुष्क भाव ही।

आगे चल कर फिर क्योंकि यह अश्व राज कुल के लिये,
है छद्म-काञ्चन-मृग हुआ विकट परीक्षा के लिये।

इस सांसारिक रण क्षेत्र में उस दलपति को-
मिलती है जय जो किसमझता अवसर गति को
स्वानुकूल अवसर पर वह जितना बढ़ जाता
विषद् समय पीछे सहर्ष उतना हट जाता।

उस वीर पुरुष से राष्ट्र का होता नव-निर्माण है
करता रहता म्रियमाण वह सदा शत्रु-अभिमान है।

किन्तु क्वचित सैनिक ऐसे भी होते रण मे
बढ़ कर हटना नहीं जानते जो प्रागण में।
संकट मे भी कभी नहीं पीछे वे हटते—
विजय मिले या नही आन पर हैं मर मिटते।

यद्यपि उनमे से क्वचित ही करता जय-श्री प्राप्त है
पर करती उनकी हार भी शाश्वत-गौरव व्याप्त है।

१

सारन्धा भी इनमें से ही एक थी,
खो कर भी सर्वस्व निभाती टेक थी।
अस्तु रहा मैदान ओरछा-भूप का,
और सुयश सारन्धा-शक्ति-स्वरूप का।

७

शाहजादा मुहीउद्दीन विजय पा के ज्योंही
आगरे की ओर को सवेग गति से चला,
अनुग बना था भाग्य पूर्ण भक्त सा अनन्य
अभिलाषा-द्रुम उसका था ख़ूब ही फला।

ज्यों ही वह आगरे के भीतर सगर्व घुसा
अरि का मदाद्रि पानी-पानी हो के था गला,
और जय-देवि ने करस्थ राज-दंड कर
सिर पै सहर्ष शुभ्र चामर को था झला।

शाहजहाँ के शासन का लो अन्त हुआ,
बन्दी पिता पुत्र द्वारा हा हन्त! हुआ।
हा, आज नहीं उसका घर भी अपना था,
पहले का वैभव सभी आज सपना था।

वह वृद्ध क़िले के वातायन से हो कर—
टपकाता यमुना मे अविरल दृग-सोकर।
फिर ताज महल को देख प्रणय की सुस्मृति-
मुमताज महल के संग-सुखो की सुस्मृति—

कर हरी, आज की दीन-दशा पर रोता,
नेत्राम्बु मोच कर सित दाढो था धोता।
था बूढा बाप आज यों बन्दी होकर—
जीवन के कलि दिवस काटता रोकर।
और तरुण मुहीउद्दीन बाप का द्रोही,
था समझ रहा सब कुछ सिंहासन को ही।

वह था राजनीति-ज्ञानी,
भेद-नीति का विज्ञानी।
जन भावों का पडित था,
अवसर-गति से मंडित था।

उसने वह दरबार सभी—
और प्रमुख सरदार सभी।
जो शाही अधिकारी थे
प्रथुल महत्ताधारी थे

थे सब अपनी ओर किये
सबके क्षमापराध किये।
सब को राज्य-पदादि दिये
सब ही पुरस्कृतादि किये।

चम्पतराय महामति को—
लखकर उनकी गुरु-कृति को,
उन्नत पद-प्रदान किया,
सम्मानित स्थान दिया।

राज्य ओरछा से 'अथ' थी,
काशी पर जिसकी 'इति' थी,
जो यमुना तक विस्तृत थी,
सुख-समृद्धि से वर्द्धित थी,

आलमगीर मोद भर के—
कृतज्ञता ज्ञापन करके—
वह जागीर भूप को दी
और मनोज्ञ प्रतिष्ठा की।

जिनके हाथों त्राण मिली
शत्रु-राज्य की नींव हिली,
आशाओं की बेल पली,
मंजु मनोरथ-कली खिली।

जिनके शौर्य - प्रलय - द्वारा—
दुर्जेय प्रतिद्वन्द्वी द्वारा—
अपनी शक्ति खपा हारा,
गया सदा को बेचारा।

जिनके हाथों सिंहासन—
भारत का स्वेच्छित शासन—
पूर्व शक्ति का निष्कासन—
मिला स्वबल का विज्ञापन,

फिर सम्राट भला कैसे—
आज विमुख होता उनसे ?

उसने उनका गर्व भरा
एक अनूठा पर्व भरा,
सद्भावों से मान किया
और बड़ा अभिमान किया।

फिर से सुख-स्वप्नों ने अपना—
मोहक जाल बिछाया,
फिर से बुन्देला राजा पर
मायिक - मन्त्र चलाया।

बना पुनः दिल्ली सिंहासन का-
सेवक वह मानी,
ऐश्वर्यों की चकाचौंध में,
भटक गया अभिमानी।

और उधर सारन्धा पर—
परवश्य - दैन्यतम - दुख ने—
कुटिल आक्रमण किया—
लगा उसका स्वतन्त्र मन दुखने।

स्वाभिमानता - मानस में
स्वच्छन्द विचरने वाली,
पड़ी भाग्य-वश पराधीनता-
मरुथल बीच मराली।

घुलने लगी शोक में उसकी
मृदुल सुनहरी काया,
था विषाद-पट में अपने को
उसने सलज छिपाया।

पानी बन-बन कर उसके
अरमान नयन के पथ से,
निकल निकल कर अपनापन
खोते थे अविरल गति से।

नियति! अहो यह कैसी है अप्रिय कटु लीला?
नहीं टपकती क्या इससे तव वृत्ति अशीला?
क्या यों ही स्वच्छन्द-वृत्ति की नवल बल्लरी—
जायेगी दुर्दैव! सूख कमनीय सुन्दरी?

कालचक्र ! क्या तेरी भी दुर्दान्त कुल्हाड़ी—
गौरव-विटपोच्छिन्न हेतु रहती है आड़ी !
निष्ठुर, क्या तू आत्म-भावना का द्रोही है ?
करता क्या तू प्यार अधोमुखि-गति को ही है ?

तब क्या रानी की उज्वल स्वछन्द-भावना--
मरणोन्मुखी बनेगी निश्चय विशद कामना ?
क्या निश्चय ही नृप के इस अग्राह्य पतन को,
कर लेगी स्वीकार हृदय से रानी त्तण को ?

रे भविष्य इस गुत्थी को तू ही सुलझा दे,
उत्सुक वाचक वृन्दों को सब कुछ समझा दे।

८

आकर जाते फिर आते हैं यों तो
ऊर्ध्व-पतन-चल चित्र
किन्तु बहुत कम मिलते हैं—
मर्यादा पर मिटने के चित्र।

बली बहादुर खान वाक्-पटु
और कुशल-मृदु भाषी था,
स्वेष्टि समार्जन में वह द्रुत-धी
मिति से परे प्रयासी था।

कठिन प्रणों का शोधन पा कर
उसने वाक् कुशलता से—
अपने को विश्वस्त कर लिया
शाह समीप सफलता से।

था औरंगज़ेब गुण-ग्राही
उसने इस सेनापति की
सम्मानित पद देकर सच्चे—
मन से समुचित इज्जत की।

राज-सभा में सभी, पुराने—
इस सेनापति का सम्मान—
करते थे, अक्षत था उसका--
पूर्व-तुल्य अब भी अभिमान।

पर फिर भी था खाँ साहब के
मन में भारी एक विषाद,
अश्व हाथ से छिन जाने का
गया न था उसका अवसाद।

देखा आज उन्होंने फिर से
अपने उस हय का मृदु-वेष
पुलक उठा मन उस प्रेमी पर
उमग उठा अनुराग विशेष।

छत्रशाल प्रातस्समीरके सेवनार्थ
उस हय पर आज—
हो सवार निकला था,
सेनापति से सौध पार्श्व से आज।

बली बहादुर भला चूकने—
वाला था कब यह अवसर ?
कहा सेवकों से "ले लो"—
इस घोड़े को फौरन जा कर।

राजकुमार अकेला कर ही—
क्या सकता था उन सब का,
पावों चल कर आया, माँ से—
कहा वृत्त सब कुछ पथ का।

सुन कर सारन्धा-मुख-मण्डल—
हुआ आग का अंगारा,
परुष अरन्तुद शब्दों में—
उसने कुमार को फटकारा।

"शोक नहीं इसका कि हाथ से
अश्व गया है मनचीता,
शोक मुझे है यह कि
उसे खोकर भी तू लौटा जीता !

क्या मुझ से पैदा होकर भी
तू ऐसा कर सकता है ?
अपने गौरव पर भी क्या तू
हाय नहीं मर सकता है ?

तेरे तन में बुन्देलों का
रक्त नहीं क्या पानी है?
जो ठुकरा कर मर्यादा--
जीवन-रक्षा पहिचानी है?

गौरव खो कर देह बचाकर
अरे यहाँ भग आया है!
कैसे तुझ से बना गँवा कर—
घोड़ा पैदल आया है?

घोड़ा गया चला जाता! पर
तुझे दिखा देना था आज,
एक बुन्देला बालक कितना–
सज सकता है ताण्डव साज?

इतना कह कर रानी ने
पच्चीस कुशल वर-वीरों को—
सज्जित कर सज शस्त्र स्वतः
ले चली साथ रणधीरो को।

चमक उठीं खर असियाँ, उनका–
छलक उठा नभ में पानी,
जा पहुँची खाँ साहब के घर
रुद्रानी सी क्षत्राणी।

सेनापति दरबार के लिये
उसी अश्व पर कुछ ही पूर्व-
चले गये थे, आज उन्हें था
अश्व-प्राप्ति का हर्ष अपूर्व।

रानी भी प्रत्यावर्तित हो
जा पहुँची शाही-दरबार,
प्रत्यंचा-परित्यक्त-तीर सी
गति थी उसमे भरी अपार

किसका भय, संकोच कहाँ का,
किसकी उसे अपेक्षा थी?
करती थी वह वही कि जैसी-
होती उसकी स्वेच्छा थी।

देखी सबने ही रुद्र-मुद्रा उस सिंहिनी की
सारे दरबार बीच कम्पन समा गया,
अधिकारी-वर्ग जमा हो गया सतर्कता से
भीड में भयद कुहराम भारी छा गया।

शाह औरंगजेब भी थे ये निकल आये शीघ्र
'अमर' का कृत्य-जन-दृष्टियों में छा गया
कितने हो नेत्र थे 'राठौर' की कृपान यही
देख चुके उन्हें वही दृश्य याद आ गया।

कड़क उठा क्षण में खाँ साहब को प्रचारता
सारन्धा-रव-उच्च प्रतिध्वनि को प्रसारता।
'खाँसाहब ! धिक ! शर्म ! आपका शौर्य शोच्य है !
बल पौरुष वीरत्व पराक्रम पतन शौच्य है !!

वही पराक्रम जो कि आप को चम्बल तट पर—
दिखलाना था उचित आज हा यों कलुषित कर—
दिखलाया है एक निरे बालक के ऊपर ?
अब भी कहियेगा अपने को रुस्तम भू पर ?

उस अबोध से अश्व छीन कर यों ले लेना
आप कहें, क्या नहीं कापुरुषता है सेना ?
खाँ साहब की आँखों से रोषानल - ज्वाला—
निकल रही थी और धूम्र सा काला काला—

उन्हें हुआ प्रतिभान, क्रोध से रद-पुट फड़के,
प्रतिध्वनि मे ध्वनि मिला तीव्र स्वर से वे कड़के।
"बस, सुन चुका, आप सुन ले, थी चीज़ हमारी
क्या मजाज़ जो ग़ैर करे यों दावेदारी ?

"नहीं, आप की नहीं चीज अब है वह मेरी
उस पर मेरा स्वत्व बजाकर ली थी भेरी।
युद्ध-नीति का यह इतना स्थूल अंग भी—
क्या यह सच है ? नहीं समझता सेनापति भी ?"

औरगजेव के दरवार में सारन्धा

वलीवहादुरखाँ को ललकारते हुए अपने पच्चीस वहादुर घुडसवारो के मा
अश्वारोहिणी वीर रमणी सारन्वा का क्रोधावेगपूर्ण चित्र

"कुछ भी हो पर यह घोड़ा देने में क़ासिर,
एवज़ में लीजिये अस्तबल मेरा हाज़िर।"
"अपना घोड़ा लूँगी क्या मैं भीख माँगती?
दानवृत्ति खाँ साहब की मैं नहीं जाँचती?"

"वजन बराबर लें इसके मैं हीरे दे दूँ
पर मुमकिन यह नहीं कि अपना घोड़ा दे दूँ।"
"अच्छा तो इसका निश्चय तलवारों द्वारा—
कर लूँगी मैं आप अभी सब वारा न्यारा।

सुवना था बुन्देला वीरों की—
तलवारों ने पल में
बिजली की रेखायें कर दीं
शान्त शून्य अम्बर-तल में।

निकट था कि दरबार-भूमि
शोणित से प्लावित हो जाती,
आलमगीर-गिरा क्षण भर को
कहीं मौन यदि हो जाती।

"ओ रानी साहिबा, आप—
अपने सिपाहियों को रोकें—
जानकनी-ओ-खूँरेज़ी पर—
इन आमादों को रोके।

घोड़ा दिला दिया जायेगा
मगर आपको उसका मोल—
बहुत बड़ा देना होगा—
क्या दे सकती हैं उतना मोल ?

"मैं सर्वस्व त्यागने तक को भी
प्रस्तुत हूँ आज यहाँ—"
"क्या जागीर और मनसब भी !'
गूँज उठा प्रत्युत्तर "हाँ ।"

'क्या रानी साहिबा राज्य भी !'
'हाँ अपना राज्यादि सभी ।'
'एक अश्व पर ?' 'न जग की—
बेजोड़ वस्तु पर न्यस्त सभी ।'

"क्या मैं उसे जान सकता हूँ ?'
'हाँ अवश्य' क्या ? अपनी आन !
अपनी आन—आत्म गौरव पर
करती हूँ सबका बलिदान ।"

सचमुच ही घोड़े पर रानी ने
जागीर, राज्य-पद-मान—
ऐश्वर्यों का जगत आदि सब
खो डाला क्षण में उत्थान ।

यह महान महार्ह त्याग-वर दृष्टव्य है,
आन पर सर्व का दान सुस्पष्ट है।
न था केवल इतना ही उसने किया,
कष्टक-मय भविष्य अपना बना लिया।

यह वह कटु घड़ी थी कि इसके परे-
गये शान्ति के दिन न नृप के फिरे।

६

अब कहाँ ऋतुराज की
वह केलि-कला-विलास-रंजन-स्थली,
भाग्य से अलि के पड़ी,
हृत, ऊष्मानल से विपन्ना बेकली

थी आज विभव पर जय गौरव ने पाई
भव के वैभव ने फिर से मुँह की खाई।
फिर से बुन्देला भूप गर्व मे पग कर—
मनसब पद वा जागीर सभी कुछ तज कर-

आगये ओरछे में शोकाकुल पर थे
वे इतना गुरुतम त्याग न सकते कर थे।
"गौरव का इतना भारी मूल्य चुकाना!
इस सूक्ष्म-दर्शिता का भी कहीं ठिकाना?"

ये भाव भूप के मन में पैदा होते,
फिर क्षण मे मिट कर वही शान्ति थे होते।
पर तद्विरोध का शब्द न उनके मुख से—
था निकल सका पीड़ित होकर भी दुख से।

थे सारन्धा की प्रकृति वृत्त की भाषा—
पढ़ कर भी कैसे करते यह अभिलाषा?
इस समय प्रिया से उपालम्भ का करना—
था स्वाभिमान की लता समूल कतरना।

अतएव पी गये वे यह कड़ुवा प्याला
था स्वाभिमान भी कैसा अहो निराला!
इस तरह उन्होंने फिर स्वदेश की प्यारी—
सुख शरण शान्तिदा मंजुल मूर्ति निहारी।

किन्तु शान्ति का वहाँ मान कब होने वाला?
जहाँ 'आन पर' सर्वनाश है होने वाला!
सारन्धा की मर्म छेदने वाली बातें!
स्वाभिमानिनी की कठोर गर्वीली बातें!

काफिर की आत्माभिमान की कड़वी बातें
दिल्लीश्वर के साथ एक सेवक की बातें!
क्या कोई अपना प्रभाव भी दिखलावेगी?
या यों ही चिर-शान्ति गोद में सो जावेगी?

नहीं नही यह कभी नहीं है सम्भव होना,
दिल्लीश्वर का प्रतिगामी बन फल से सोना।
क्षमा और औरंगजेब से उसकी आशा ?
सिकता मे से स्नेह-प्राप्ति की सी अभिलाषा !

ज्योंही हुआ भाइयों की चिन्ता से खाली,
दृष्टि ओरछा पर उसने तुरन्त ही डाली।
गर्वी चम्पतराय ! आन पर मरते हो तुम ?
देखूँगा मैं तुम्हें कि अब क्या करते हो तुम ?

तुमको वह औरंगज़ेब क्या भूल गया है ?
जिसके मन में रंच-मात्र भी नही दया है !
जिसने अपना वृद्ध पिता भी कैद किया है !
सगे भाइयों का शोणित तक बहा दिया है !

उसके होते हुये हौसला इतना भारी ?
सम्हलो सम्हलो मिली तुम्हें अब सजा करारी।
उसने समर-सुपंडित बाइस सामन्तो को—
विगत मोर्चों के विजयी वर बलवन्तों को–

दे कर पुष्कल सैन्य ओरछा-दर्प-दलन को
भेजा गर्वी राजा का पद-मन-स्खलन को।
कितने ही विभीषणों ने भी हाथ बॅटाया
कितने ही जयचन्दों ने भी पुण्य (?)कमाया।

बचपन का वह मित्र और सहपाठी प्यारा,
बना भूप के लिये आज 'शुभकरण' दुधारा।
बेंट कुल्हाड़ी का बनकर यह वीर बुन्देला—
मातृ-भूमि की छाती पर तक्षक सा खेला।

उसने बीड़ा लिया ओरछा सर करने का
स्वाभिमानिनी जननी का गौरव हरने का
शाही सूबेदार 'शुभकरण' के अनुगामी,
कितने ही हो गये बुन्देले नमकहरामी।

सबने ही स्वजाति पर निज तलवार उठाई
सबने ही स्वदेश पर निज असि-धार बहाई।
बने आगरा के गुलाम जाकर वे द्रोही,
देश जाति के लिये बने पामर-विद्रोही।

हा कितना यह पतन ? क्षत्रियो की दुर्बलता
किसको कटुफल आज नहीं है इसका खलता ?
एक घोर संग्राम हुआ दोनो पक्षो मे
एक रक्त था किन्तु वहा दोनो पक्षों में।

भाई की तलवार और भाई के सिर पर—
खेल उठीं, गिर पडी देह धरती पर चिर कर।
हुआ एक कोलाहल भारी और वहीं पर—
क्रम क्रम लय हो गया निलय मे और मही पर

शिरच्छिन्न कर-पाद-विगत शव पड़े रह गये
और कुछेक व्रणाहत मरणासन्न रह गये।
उनके दुखिया तृषित नेत्र कुछ माँग रहे थे,
किन्तु हताश अभागे कुछ भी पा न रहे थे।

जीवन के इन शून्य क्षणों की कोई आशा,
पूरी होती भला कहीं देखी अभिलाषा!
रक्त-पियासु स्वार्थ मे अन्धे हा मनुजों के—
लख पैशाचिक कृत्य नत हुये मुख दनुजों के।

मानवता हो गई निराश्रित रण में अशरण,
झुलक रही थी हृदय-हीनता-निर्दयि दारुण।
थे यद्यपि विजयी हुये नृपाल आज के रण में,
पर खो बैठे वे हाथ शक्ति से इस जीवन में।

जिन वीर भटो पर अतुलशक्ति का उन्हें गर्व था,
कर दग़ा उन्होंने सर्व गर्व कर दिया खर्व था।
अपरान्य बुन्देले राजा भी ओरछा-नृपति से—
थे विमुख हो गये और मिल गये दिल्लीपति से,

वे साथी जो दाहिनी भुजा रण मे नृप की थे
थे खेत रहे, जो बचे हुये वे रिपु-साथी थे।
अब सम्बन्धी जन तक भी निज सम्बन्ध भूल कर
बचते थे नृप को मूर्तिमान-आपत्ति जान कर।

वे इष्ट मित्र प्रियजन सम्बन्धी हित् आदि सब
थे जो नृप के सर्वस्व हो गये वही शत्रु अब।
था किन्तु दृढ़व्रती नृप का दुस्साहस भी कैसा
है किन्हीं साहसी वीरों में ही मिलता जैसा।

सब छोड़ दिया नृप ने राज्यादिक विभव भोग भी
था केवल साहस और धैर्य को रखा दे सभी।
हा वही भूप जो मुग़ल राज्य का सुदृढ स्तम्भ था
सब त्याग अवश का रहा वन्य जीवनारम्भ था।

वह यशोभूमि ओरछा अमल जिसका अतीत था
जिसका गौरव गुरु-उच्च दर्प अविचल अजीत था।
श्री महाराजा रुद्र देव ने अमिट सुयश से
था जिसे सँवारा सदा बचाया कटु अपयश से।

श्री हरिश्चन्द्र जी ने भी जिसका अक्षय गौरव—
रक्खा था और दिया अर्जित कर अन्यपि अभिनव।
'था मारा मारा फिरा हुमायूँ जिसके कारण,
कुछ कर न सका था जिसकी उद्धत शक्ति निवारण

वह शेरशाह सूरी भी अपनी कीर्ति गँवा कर—
ले हरिश्चन्द्र से गया जहाँ से हार कमा कर।
जिसका भारत सम्राट जयी अकबर महान भी
कर सका न कुछ भी विफल हुआ करकोट यत्न भी।

बन मधुकर मधुकरशाह सुमन-अकबर प्रताप का—
सब चूस लिया माधुर्य ले लिया सुरस-दाप का।
फिर वीरसिंह ने भी अकबर का दर्प दुराया
था वीर-प्रसू ओरछा अवनि का गर्व निभाया।

यों मुँह की खानी पड़ी सदा जिससे अकबर को
करनी तक सन्धि पड़ी अवश्य हो दिल्लीश्वर को।
जिसको श्री इन्द्रजीत ने अलका-तुल्य सजाया
वर-सुधी, पंडितों से मंडित कर यश बगराया।

फिर केशव ने जिसकी सुकीर्ति को काव्य-सुधा में-
है विनिमज्जित कर अमर कर दिया इस बसुधा में,
यों जो भूतल पर रहा गर्व मय उन्नत अविचल,
जिसका यश अबतक रहा प्रशस्त धवलतम अविकल।

हा, वही ओरछा आज काल के कुटिल चक्र ने—
यो छुड़ा, किया वनवासी नृप को भाग्य वक्र ने।
अति सघन झाड़ियों और पादपो के आश्रय में—
बुन्देल खंड के वन्य पर्वतों के आलय में—

वे छिपे, न तो भी कल की नींद कभी ले पाये
जब जहाँ रहे वे गये शत्रु के हाथ सताये।
शाही सेना यों पड़ी हुई थी उनके पीछे
हो लुब्ध अहेरी धावित ज्यो अहेर के पीछे।

इस अनाश्रयावस्था में भी जब तब भूपति से
हो ही रहती थी पकड़ धकड़ प्रतिद्वन्दी दल से।
तो भी नृपाल थे उसको इसका मज़ा चखाते,
थे मुँह की खाये बिना न अरि-जन जाने पाते।

थी नृप की रानी सदा साथ ही नृप से रहती
जब जो भी आते क्लेश धैर्य-पूर्वक थी सहती।
वह नृप के दुख मे दुःख सौख्य में मोद बँटाती,
थी अर्द्धांगिनि अर्द्धांश सभी में अपना पाती।

जब कठिन आपदायें आकर धीरज हरती थीं,
मिट कर आशाये अन्धकार मय पथ करती थीं,
जब उसका साहस और धैर्य अस्थिर होता था,
किंवा कोई शैथिल्य अपर दृग्गत होता था,

तब आन निभाने का कठोर-व्रत मूर्तमान हो
मानों कहता था उससे 'सम्हलो! सावधान हो!!
लो अपनाओ तुम मुझे त्याग कर भी सब अपना
यह राज्य-सौध सुख भोग सभी वैभव है सपना।

तब उत्तर मे वह वहीं गूँज उठती नस-नस मे—
हे राजहसिनी आन! विहरु मेरे मानस में।
तेरा कटु रक्षण भरण और पोषण हे प्यारी
मैं खोकर भी सर्वस्व करूँगी हे सुकुमारी!

इस तरह झलक दुर्बलता की दृढ़ता-प्रकाश में—
थी लय हो जाती, ज्यों उडुगण प्रातराकाश में।
यों तीन वर्ष तक बिता दिये वनवासी नृप ने
रिपु रहे देखते उन्हें पकड़ने के ही सपने।

सब तरह विवश हो रहे न नृप की झाँकी पाई
जब पाई भी तब खूब करारी मुँह की खाई।
अन्ततः सभी सूबेदारों ने हार मानकर—
औरंगजेब को लिखा 'आप ही आयें सजकर।

यह शेर आप के सिवा न कोई मार सकेगा
इसके मुकाबिले ताब? कि कोई ठहर सकेगा।
उत्तर आया 'लो फौज हटा वापस आ जाओ,
दुश्मन की ताकत पर मत अपना जोर लगाओ।'

यों देख भूप ने शत्रु-शक्ति का—
निकला हुआ दिवाला—
समझा, बैरी कर गया सदा के लिये
आज मुँह काला।

किन्तु भ्रान्ति थी नृप की, जिसका सब उपचार।
कर अदृष्ट ने दिया शीघ्र ही भली प्रकार।

१०

खरी-परीक्षण-ताप आज कसौटी थी बनी-
मर्यादा की बात, गात गात में रम रही।
थे उस दिन भूले भूप आज वह भ्रान्ति ही-
हत अति कठोर बन अनृत आगई आप ही।

बीर बार निज कक्ष पर तब से घूमी यह रसा,
होती ही नृप की गई अधिकाधिक पर नीरसा।
घेर चुका था ओरछा विकट शत्रु का जोर
परे हुआ था बहुत, इस असित निशा का भोर।

आज ओरछा के सुदिनों की
आई निशा अँधेरी।
आशाओं की पतित हो रहीं—
उल्कायें बहुतेरी।

बीस सहस्र पुरुष, बालक गण
और नगर-वनितायें—
घिर कर आज दुर्ग में सहती—
हैं असीम - विपदायें।

आधे से कुछ अधिक नारियाँ
उनसे कुछ ही ऊनी।
शिशु संख्या है घिरी कोट में
पुरी पड़ी है सूनी।

मर्द दिनों दिन घटते
करते रण-चंडी की सेवा—
व्रताचरण-रत वामायें
हैं नित्य मनातीं देवा।

नहीं किले में कोई रिपु से
बच कर जाने पाता।
और न कोई भीतर से ही
बाहर आने पाता।

अब सामान रसद का है
रह गया नाम को थोड़ा,
पुरुष और शिशु जियें
अतः बधुओं ने भोजन छोड़ा।

करती हैं उपवास नारियाँ
बिना अन्न बेचारीं,
शत्रु कोसती हैं कन्यायें
दैन्य - पीड़िता सारी।

और अल्प वय वाले बालक
दीवारों में छिप कर—
रोष भरे वे ख़ूब फेंकते—
पत्थर अरि के ऊपर।

पर बेचारे बालक ही तो
उनके फेंके ढेले—
मुश्किल से दीवार पार—
कर पाते ठेले ठेले।

और ओरछाधिप की हालत ?
ज्वर से जर्जर निर्वल।
जरा-प्रप्त-काया की छाया सी
शैयागत केवल।

उन्हें देख कर रहा सहा भी,
धैर्य लोग खोते थे,
बिना पोत वे सभी दुखार्णव में
खाते गोते थे।

जहाँ नृपति को देख सभी को
कुछ धीरज होता था,
आज उन्हें रोगी निहार
जन-जन दुखिया रोता था।

वृद्ध भूप को उच्छ्वासों में
आशाये रोती थीं,
उनकी करुणाद्रित आँखों में
पीड़ाये सोती थी।

आशा कहाँ निराशा की
छाई कालिमा अँधेरी,
आज ओरछा के सुदिनों की
आई निशा अँधेरी।

× × ×

राजा ने करवट बदली
बोले कराह कर "प्यारी,"
निश्चय आज शत्रु हो जायेगा,
गढ़ पर अधिकारी।

इन अनाथ बालक बालाओं --
की रक्षा हो कैसे,
गेहूँ साथ आज यह भी
पिस जायेंगे घुन जैसे।

इनकी चिन्ता प्रिये न कल से
मरने भी अब देगी,
हा अभाग्य लिपि ! यह असह्य -
यातना और अब देगी !

"कभी न हो हे ईश्वर ऐसा"
दुखिया रानी बोली—
"नाथ, कहो तो कहूँ बात
जो मैंने मन में तोली,

"यदि हम लोग क़िला खाली कर
निकल चलें तो कैसा ?"
"रानी, इन दुखियों को तज कर ?
उचित इस समय ऐसा ?"

"नहीं नाथ, पर आज छोड़ने -
मे ही कुशल दिखाती,
होते हमीं न गढ़ में, रिपु की
सेना ही क्यों आती ?

फिर यदि हम न मिलेंगे तब तो
इन लोगों को पाकर
निश्चय शत्रु लौट जायेगा
उचित दया दिखला कर।"

"नहीं नहीं सारन ! यह मुझसे
कभी न होगा करते,
इस कलंक को ले जाऊँगा
क्या अब मरते मरते।

जिन वीरों ने मुझे मान कर
अपनी जानें छोड़ीं,
जिनके दुखी परिजनों ने
मुझसे आशायें जोड़ीं।

उन माताओं को किजिन्होंने
निज जवान लालों को,
उन विधवाओं को कि जिन्होंने
निज सुहाग वालों को।

भोले शिशुओं को कि जिन्होंने,
पितृ-गोद के सुख को,
मुझ पर ही उत्सर्ग कर दिया,
खोकर जीवन भर को।

कैसे छोड़ूँ तुम्हीं कहो
वे मातायें विधवायें !
कैसे छोड़ूँ उन वीरों के
भोले शिशु कन्यायें ?

इस शरीर के रहते रहते
कभी न उनको छोड़ूँ,
आज भीरु बन कर इन दुखियों—
से ही क्या मुँह मोड़ूँ?"

"लेकिन स्वामिन! रह कर भी
हम यहाँ मदद क्या उनकी—
कुछ भी कर सकते हैं?
कैसी विडम्बना जीवन की!"

"शुभे, आज उनकी रक्षा में
हम असमर्थ निरे हैं,
उनके साथ प्राण देने से भी
क्या किन्तु गिरे हैं?

मैं उनकी रक्षा में अपना
जीवन ही दे दूँगा,
जो भी आये इस शरीर पर
मैं सहर्ष सह लूँगा।

रिपु-कारा की भीम यातनायें
भी सहन करूँगा,
किन्तु अरक्षित छोड़ उन्हें
मैं कहीं न पैर धरूँगा।

इस संकट मे उन्हें अकेला
छोड़ स्वर्ग का सुख भी—
प्राप्त मुझे ही यदि तो छोड़ दूँ
करूँ न चिन्ता कुछ भी।"

कहते कहते नृप ने देखा
रानी की दृग्-रेखा—
भूनिपतित हो गई वहाँ हो
ज्यों साधन सा देखा।

रानी लज्जित हुई सोचती थी
यह अपने मन में,
ऐसी तो स्वार्थान्ध हुई थी
कभी न मैं जीवन में।

निश्चय ही प्रिय अनुग सहचरों को
तज कर, यो अपनी—
जान बचाना घोर नीचता—
पूर्ण वृत्ति है अपनी।

अब तक जिस दुर्बलता ने
है मुझे न छू भी पाया,
आज हाय घर दबोचने ही
आई उसकी माया।

× × ×

सहसा एक नवीन युक्ति से
उसकी मूक अवस्था-
भंग हुई, बोली तो यह तो
होगी उचित व्यवस्था-

कि यदि आप को हो जाये—
विश्वास कि ये बेचारे,
त्रस्त न होंगे अन्यायों से
हो कर हम से न्यारे।

तब तो आप चल सकेंगे ?
या फिर भी कोई द्विविधा ?
रे जो मेट दैव रे! यह भी
अगति-वारिणी सुविधा!

"ऐसा कटु विश्वास दिलाने
का दायित्व सयानी!
कौन करेगा अपने सिर
ले लेने की नादानी ?

मेरे जाने पर मेरे जन
फिर निश्चिन्त रहेंगे,
यह दायित्व कौन लेगा ?
"वे बाधा - मुक्त रहेंगे ?"

"सेनापति का सुदृढ़ प्रतिज्ञा-पत्र"
"सुनो तव प्यारी !
मैं सहर्ष चल दूँगा,
होगी मुझे न कुछ इनकारी।"

बूढ़े राजा से रानी ने
यों विचार ठहरा कर—
दुर्ग-त्याग की स्वायोजित
उपयुक्त व्यवस्था पाकर—

लगी सोचने किन्तु कठिन
प्रतिबन्ध-रज्जु का बन्धन !
कैसे किया जा सकेगा
यह फली-भूत प्रतिबन्धन ?

बादशाह के सेनापति से
ऐसी कड़ी प्रतिज्ञा,
कैसे राम कराऊँगी
हत आज हो रही संज्ञा।

लेकर ही प्रस्ताव वहाँ पर
कौन जायगा मेरा,
फिर वे लगे मानने ही क्यों
दीन - निहोरा मेरा।

जब कि विजय की आशा से
हैं फूल रहे अभिमानी,
फिर क्यों लगे निर्दयी सुनने
मेरी करुण - कहानी।

वाग्वीर नय कुशल सुधी भी
कोई नहीं दिखाता,
जो कौशल से यह दुरूह—
गुरु-कार्य सिद्ध कर लाता।

छत्रशाल चाहे तो निश्चय
सहज - बुद्धि से इसको—
कर सकता है क्यों कि—
सभी गुण प्राप्त हो रहे उसको।

यों निष्कर्ष मनोगत कर
रानी ने उसे बुलाया,
किन्तु साथ ही उसका
जननी-सुलभ हृदय भर आया।

यह रानी के सभी कुमारों में
था भट भर - बंका—
चतुर, साहसी, शत्रु-मात्र को
मूर्तमान थी शंका।

रानी भी सर्वाधिक उस पर
मातृ - स्नेह की छाया -
रखती थी, था वह ही केवल
उसके चित्त समाया।

आकर छत्रशाल ने जब
माता को शीश झुकाया,
मा की तब गरीब आँखों में
विवस नीर भर आया।

उसका कोमल हृदय धड़कने—
लगा प्यार का लोभी,
हुआ समर्थ न एक व्यथित
निःश्वास रोकने को भी।

सुत बोला "मा दास उपस्थित,
क्या अनुशासन उस को ?"
"आज युद्ध की गति-विधि कैसी ?
आशा कैसी किस को ?"

"अब तक शूर पचास हमारे—
खेत आ चुके रण में।"
"हा हतोऽस्मि अब लाज बुन्देलों
की है ईश्वर - कर में।"

"मा, हताश क्यों ? आज निशा में-
छाया अरि के ऊपर—
'मारूँ और पराभव दे—
लूँ विजय-कीर्ति इस भू पर।

माँ मैं आज खड्ग से अरि की
छाती पर गौरव से—
स्वविजय-वृत्त लिखूँगा निश्चय ही
शोणित की मसि से।"

"ऐसा ही हो बेटा, तेरी—
कीर्ति-पुञ्ज का सौरभ—
फैले, और उत्तरोत्तर हो
शत्रु-दर्प हत-निष्प्रभ।

फिर रानी ने तनय सामने
तत्कालीन व्यवस्था—
पर विचार कर दोहराई
अपनी आयोज्य व्यवस्था।

बोली पुनः "जाय यह सौंपा
काम बताओ किस को ?"
वीर पुत्र ने कहा "जननि !
इस प्रीति-पात्र-जन—मुझको।"

"क्या तुम पूरा कर लोगे?"
"हाँ मा, विश्वास यही है।
इस सेवक के लिये काम यह
कुछ भी बड़ा नहीं है।"

"तो जाओ, सर्वेस, मनोरथ
पूरा करे तुम्हारा,
मंगल-मय का पाओ बेटा,
शाश्वत सफल सहारा।"

✻ ✻ ✻

जब पदाब्ज-रज शिरोधार्य कर
चला तनय बड़-भागी,
मा ने उसे अंक भरि चूमा,
वत्स - प्रेम - अनुरागी।

और गगन की ओर हाथ कर
वह धन्या अकुलानी,
सजल-नयन अवरुद्ध - कण्ठ
वह बोली आरत-वानी।

"दयानिधे! यह तरुण-तनय
यह होनहार सुत प्यारा,
बुन्देलों के गौरव पर
करती हूँ भेट दुलारा।

गौरव पर पुत्र की भेंट
राजकुमार छत्रशाल को शत्रु के हाथों में जाने की आज्ञा देती हुई
दुखिया माता सारन्धा का करुण चित्र

J PRESS, ALLAHABAD

मैं दुखिया हूँ आज मी सी
यह अमूल्य धन खो कर,
अब यह 'आन' निभाना भगवन् !
एक आप के ऊपर ?

नाथ ! गरीबिन ने—
अमूल्य निधि,
अर्पित की है—
हृदय मसोस,

एक 'आना' पर ?
अंगीकृत कर—
दुखिया को—
दीजो परितोष।

११

दूसरे दिन जब प्रातःकाल—
किया अरुण ने प्राची भाल,
रुचिर सज्जित अनुरंजित लाल,
सजा कर तब पूजा का थाल—

चली मन्दिर को कल्याणी,
उचित सामग्री सज रानी।

मुदित थी आज न वह मन में,
प्रकट थी श्रान्त शिथिल तन में,
पीतिमा गहरी आनन में,
निराशा कड़वी जीवन में—

झलक थी मार रही उसके,
कुटिल कब साथी हैं किसके?

कृशाङ्गी वह दुखिया बेहाल
व्यथित ज्यों शफरी पड़कर जाल,
नत किये अपना उन्नत भाल
मनोगत सब अरमान निकाल–

जा रही धरने प्रभु के तीर
होरही अनुक्षण अधिक अधीर।

अभी वह मन्दिर के ही द्वार—
पहुँच पाई थी किसी प्रकार,
प्रथम इसके कि देहली पार—
को वह मिला उसे उपहार।

अचानक व्योम-कक्ष को चीर—
गिरा उसकी थाली मे तीर।

तीर क्या था उसका अग्राङ्ग—
लिये था आशा का एकाङ्क।
पुलक आया उसका शुभ्राङ्ग,
पढ गई उसको साङ्गोपाङ्ग।

नोक मे नत्थी चीठी थी,
आह, कितनी वह मीठी थी?

शुभाशा की उठ एक हिलोर—
कर गई उसको हर्ष विभोर।
अपर क्षण पर उसका ही जोर-
डालने उसको लगा मरोर।

हर्ष लय हुआ एक क्षण में,
यथा हो क्षणक-प्रभा घन मे।

'हाय यह कागज का टुकड़ा!
पड़ा कितना मुझको अकरा?
हृदय कर पत्थर-तुल्य कड़ा,
दिया है सुत ही को जकड़ा!!

हन्त, इस कागज का यह मोल!
दिया किसने कब इतना मोल?

किन्तु असमय की गुनकर बात-
सहा उसने यह महदाघात,
पुनः विधि-विहित स्वकृत्य निपात—
चली वह तेजोमयि अवदात।

सौध में आकर वह तत्काल,
गई शायी थे जहाँ नृपाल।

व्यष्टि का हित था उसे न इष्ट
लक्ष्य था सुन्दर श्रेय-समष्टि
इसी से हो कर वह आकृष्ट
खोजती थी पथ कोई शिष्ट

आज उसके मन की हो ली
वचन वह नृप से यों बोली।

"वचन जो दिया निभायें तात !
कुल-व्रत निभे जयी-कुल-जात !"
श्रवण कर यह स्वजनी की बात
किया साश्चर्य भूप ने ज्ञात—

"प्रतिज्ञा अपनी विक्रान्ता,
पूर्ण कर ली है क्या कान्ता ?"

सपदि रानी ने वह प्रण-लेख
दिया, नृप ने गौरव-युत देख—
कहा (यद्यपि थे व्यग्र विशेष)
नहीं अब मुझे कथन कुछ शेष।

चलूँगा अब मैं त्याग निकेत,
सहूँगा सब कुछ धैर्य समेत।

किन्तु क्या मुझको है सन्तोष ?
विवश-गृह-निर्वासन पर तोष ??
नही, यह मेरा पौरुष - कोष—
कभी भर कर उगलेगा रोष !

शत्रुओं का तब उद्धत गर्व—
ध्वस्त हो जायेगा यह सर्व।

किस तरह हो सकता हूँ शान्त ?
शत्रु-कृत पाकर मै एकान्त !
आज जर्जरित रोग से श्रान्त—
हो रहा हूँ कैसा उद्भ्रान्त !!

खबर फिर से अरि की लूँगा
न कल से अब रहने दूँगा।

ओरछा का भूपाल वही !
खरी जिसकी करवाल रही,
सदा गरवीली चाल रही,
कि जो अरि को भी साल रही।

आज इस भाँति चले रानी ?
'दैव की है किसने जानी !'

किन्तु सारन, सच बतलाना
हुआ कैसे इसका पाना।
उसे, जिसका हल हो जाना—
असम्भव ही था अनुमाना—

किया कैसे पूरा तुमने?
दिया विनिमय में क्या तुमने?"

"बहुत कुछ नाथ, तरुण सुत एक
छोड़ कर उचितानुचित विवेक-
बुन्देलों की रखने को टेक।
सहन कर भी कटु पीड़ानेक—

पड़ा रिपु को देना हा हस्त,
मिला तब कहीं पत्र यह कस्त।

बाण सा खाया नृपवर ने
काट खाया ज्यों विषधर ने।
या कि उनको हत ही करने—
कम्पयुत आ घेरा डर ने।

सभय पूछा क्या अंगदराय,
फँसाया गया हाय निरुपाय?

या कि फिर रतनशाह पर टूट
ले गया उसे दैव है लूट
अथच दुर्द्दष्टा की गति-कूट—
पड़ी प्रिय छत्रशाल पर छूट ?

बताओ तो मेरी रानी !
ढुरा किस पर असि का पानी ?"

"नाथ, सच कहना ही होगा !
भाग्य का सहना ही होगा !
अनल मे दहना ह' होगा !
हताहत रहना ही होगा !

हाय वह छत्रशाल सा इष्ट—
ले गया मुझ से हर दुर्द्दष्ट !"

विद्ध शर से होकर जैसे-
गिरे द्विज नृपवर भी वैसे—
उछल कर संज्ञा हत कैसे—
गिरे, सम्हले जैसे तैसे।

भला पवि के निपात पर भी,
खड़े रह सकते गुरु-तरु भी ?

व्यथी ने एक दीर्घ निःश्वास—
खींच कर कहा "हाय, विश्वास
शत्रु का कैसा? आज विनाश,
दैव-कृत औदन प्रत्ययाभास-

सफलता पूर्वक होता है।
भाग्य हम सब का सोता है।

कहीं यदि छत्रशाल सा वीर -
शत्रु-कृत्य हुआ आज अशरीर,
प्रिये, फिर और सुभट ध्रुव धीर
नहीं, जो डाले अरि को चीर।

बुरा तुम से यह कृत्य हुआ
बुन्देला - कुल ही त्रस्त हुआ।

भूप की आशाओं का शेष -
यही था आलम्बन सविशेष,
इसी से उसको यथा विशेष
प्यार करते थे अधिक नरेश

पड़ा उसको अरि-कर में जान—
आज भूपति थे विकल महान।

हा, आज वह ही दुर्घड़ी—
दौर्भाग्य-कर्पित आ पड़ी।
जब प्राण-रक्षा की कठिन-तम योजना,

सम्यक निभाने के लिये
बिगड़ा बनाने के लिये
पथ-गुप्त रानी को पड़ा है खोजना।

वह पालकी में भूप को
'अरि को कृतान्त-स्वरूप' को
बैठा, हुई फिर स्वयं अश्वारोहिणी,

फिर दुर्ग के पथ गुप्त से
जब शत्रु सारे सुप्त थे,
तब निकल कर चल दी अमिति अभिमानिनी।

तम-तोम का प्राबल्य था
स्पष्ट सा वैफल्य था
दुःखद-निशा की कालिमा थी छा रही,

नैश - नीरवता - बिपुलता
गहन की भीषण गहनता
भंग कर, वह पार करती जा रही।

थी आज ही जैसी निशा
वह भी बड़ी ही कर्कशा
हत, जब कि रानी ने चुटीली सी गिरा

प्रिय-विरहिणी को लक्ष्य कर—
गुरु - गर्व को प्रत्यक्ष कर—
थी कही, उसका आज प्रतिफल-सा फिरा।

था शीतला ने जो कहा
है आज वह ही हो रहा
रानी स्वपति को है छिपा कर जा रही,

पर रहो, ठहरो, मत बहो
देखो कहाँ तक सत्य हो
'वह प्रति-कथन भी' क्योंकि बारी आ रही।

!

भाभी का भावी कथन—
हुआ आज सम्पन्न,—
प्रत्युत्तर भी ननद का
होगा क्या प्रतिपन्न ?

?

१२

जिसका मंजु प्रभात, खिला सुगौरव-क्षितिज मे !
आई उसकी रात ! शोणित-सन्ध्या से सनी ?

लिख आज लेखनी, वही क्षात्र-गौरव-कथा
जिसका था उज्जवल भूत गर्व मय सर्वथा,
हैं इतिहासो के पृष्ठ आज नीरव बने
वे कहे क्या कि है, स्वयं रक्त से सब सने।

दोपहरी का समय मौलि पर प्रखर दिवाकर-
निष्ठुर बन कर गिरा रहा था तीव्र कर-निकर।
भीष्म ग्रीष्म का चंड पवन उत्पात मचाता,
घनों पर्वतो मे फिरता था आग लगाता।

थी अवनि अवा सी जल रही दिनकर-कर-उत्ताप से
नभ उष्ण श्वास को खीचकर काँप रहा था ताप से।

हुई सभीता-छाया भी तरुओं के नीचे,
विकल कोटरों में प्यासे थे खग दृग मीचे।
हिंस्र जन्तु भी खड़े विवश अपना मुँह बाये
गवादिकों की छाया में निज वृत्ति दुराये।

धू धू कर चलता था पवन, पथिक गमन थे तज चुके
रोके भी भारी तृषा को खग-मृग-जन थे सब रुके।

वह भीषण झुलसाने वाला वेग भी,
सका न सारन्धा-प्रयाण कर स्थगित नेक भी,
घोड़े पर सवार वह शिविका साथ व्यग्र सी—
पश्चिम को जा रही सिन्धु की गति उदग्र सी।

थी निकल चुकी दस कोस वह निर्गत हो निज कोट से,
प्रतिपल होता यह भान था बच आये रिपु-चोट से।

पड़े हुये थे शिविका में नृप संज्ञा खोये,
कठिन रोग से क्षीण हाथ पौरुष से धोये,
डूब चुके थे सभी पसीने में कहार भी,
कुछ विराम ले न था उन्हें इसका विचार भी।

पीछे से पाँच सवार भी चपल तुरंगों पर चढ़े
थे चले आ रहे वेग से साथ पालकी के बढ़े।

बेचारों का बुरा हाल था प्यासे सब थे,
सिर पर ऐसे कुदिन पड़े किसके बेढब थे ?
रसना थी रसहीन हो गई तालू सूखा,
चुल्लू भर जल बिना बना था जीवन रूखा

थीं सब की आँखें चतुर्दिक दौड़ रहीं आशा भरी,
मिल जाय कुये के पास ही कहीं विटप छाया हरी।

इसी समय सहसा सारन्धा की दृग रेखा—
मुड़ी, पूर्व में क्षितिज पास उसने यह देखा,
भीम वेग से एक सैनिकों का दल भारी—
आँधी जैसा चला आ रहा आयुध-धारी।

तब किसी अमंगल भाव ने उसमें कम्पन भर दिया,
'रिपुओं ने हम पीड़ितों पर पुनः आक्रमण कर दिया।'

फिर सोचा शायद कुमार ही हों न हमारे,
आते सदल सहायतार्थ हों घोड़े मारे।
आशा, हा तू कितनी ही निष्ठुर बन जाये,
फिर भी रहता लोक तुझी में मन समझाये।

अब भय आशा की विषमता, विषम ताप देने लगी,
(पर स्वप्न तक भी न यह, रहा शीघ्र ही वह जगी।)

पड़े हुए थे शिविका में नृप सज्ञा खोये

पालकी मे लेटे वृद्ध और बीमार राजा चम्पतराय और पाँच घुडसवारो के साथ घोडे पर सवार सारन्धा, देशनिर्वासन का करुणा और व्यथा भरा चित्र

A L J PRESS, ALLAHABAD

देखा उसने निकट आ गये अश्वारोही
'यह तो नहीं कुमार हाय हैं नृप के द्रोही !'
कँपने लगा अंग उसका थरथर चलदल सा,
भय से था मच गया हृदयमें उथल-पुथल सा।

या किसी भाँति उसने किया अपने को स्ववर्ण-कृता,
फिर हुई शीघ्र वीरांगना वह यों अनुशासन-रता।

डोली को लो रोक, बढो मत आगे वीरो !
प्यास बुझा लो अपनी, इन रिपुओं को चीरो !
ठहरो, अपनी तलवारों को खून पिला लो ;
मरो और बुन्देलों का यश अमर बना लो !

यह सुन कर उसकी भा ती, बुन्देले उन्मद हुये,
झट खींच खड्ग समरार्थ सब, रौद्र-रंग में रंग गये।

तन से थे नृप जीर्ण न थे वे दुर्बल मन से,
शत्रु-खड्ग की झङ्कृत ध्वनियाँ कैसे सुनते ?
शोच्य निरी थी दशा किन्तु जैसे सुप्तानल–
वायु-प्रगति-संसर्ग प्राप्त कर उठता है जल।

भूपति के जर्जर जरागत शिथिल गात में स्फूर्ति सी,
त्यों चमक उठी वीरात्मा आदि-शक्ति की मूर्ति सी।

शिविका-पट से झट निकले वे फिर कमान को
हाथों में लिया जोड़ने लगे वाण को।
पर वह धन्धा जो कि हाथ में उनके पड़ कर
बन जाता था वज्र शक्र का झुका न अणु भर

सिर चकराया तमका पटल आँखों में सहसा छा गया,
एक कम्प के साथ ही तन झुका भूमि पर आ गया।

लख कर अपनी ओर भुजग को आता डरता
वे पर का खग यथा उचकता फिर गिर पड़ता
वैसे ही नृप (पुनः सम्हल कर) उठे तदपि वे-
फिर गिर पड़े न पैरों पर रह सके खड़े वे।

यह देख भूप की दुर्दशा तब रानी रोने लगी—
अरमानों के नीर से वह मनस्ताप धोने लगी।

फिर दुखिया ने किसी तरह झल अंचल-पट को
होश कराया और सम्हाला मूर्च्छित पति को।
कुछ कहती पर नारी का मन ही तो ठहरा,
भर आया रह सका न इतना सह कर गहरा।

'हा प्राणनाथ' कह फिर न वह, शब्द एक भी कह सकी,
थी जानें वह जकी सी या वाणी ही उसकी थकी।

उधर हो रहा था वीरों से भीषण संगर,
पाँच थे तो क्या? मचा रहे काट भयंकर
बढ़ना था होगया शत्रु को डग भर मुश्किल
पड़ी कहाँ थी उनको ऐसी दाँता किल-किल?

नृप को असीम प्रिय था बना समर आज के ढंग का,
अपने सुभटों के शौर्य का कौतुक देख उमंग का।

किन्तु देर तक उनको यह भी प्रिय न रह सका
देखा अपना वीर गिरा जब निहत सा थका,
उनकी आशाओं की साँसे एक-एक कर—
वीरों के ही साथ लगीं जाने रुक रुक कर।

तब तो हो उठे अधीर वे बोले "सारन! एक वह-
लो, और वीर अपना गिरा, होता है क्या दैव यह?"

जिस विपत्ति से था जीवन भर डरता आया,
उसने अन्तिम समय-आज-आ मुझे दबाया
मेरी आँखें देखेंगी जब शत्रु अभागे—
अंग तुम्हारे पर कर डालेंगे भय त्यागे।

मैं वृद्ध हाय निज जगह से सकूँगा न हिल डोल भी,
सब देखूँगा निरुपाय हा, पर न सकूँगा बोल भी।

हाय मौत ! तू कब आयेगी मुझे बचाने
भव की बाधाओं से मेरा पिंड छुड़ाने।
किन्तु भला तू क्यों आएगी ? मैं ही आया"
कह कर नृप ने हाथ खड्ग की तरफ बढ़ाया।

पर उन हाथों मे दम न था तब बोले निज-प्रिया से।"
"है कई बार तुमने शुभे, आन निभाई क्रिया से।"

यह सुनते ही रानी का मुरझाया आनन—
गौरव से खिल उठा पुलक आया कोमल मन
उसके सूखे नेत्र, बदन की गहरी लाली,
कहती थी प्रत्यक्ष कि 'प्रस्तुत है हृदयाली।'

उसने नृपाल की ओर तब देखा फिर कहने लगी—
(नव-बल-आशा-विश्वास की त्रय वेणी बहने लगी।)

"स्वामिन, अब भी धैर्य युक्त यह अबला दासी
स्व-व्रत निभाने को कठोर-तम बनी उपासी।
धाता ने चाहा तो मरते 'दम तक अविचल-
आन निभायेगी स्वजाति की निश्चय अविकल।"

उसने जाना अनुमान से, स्वामी का संकेत है—
मैं प्राण हुति दे दूँ, यही मूक-नृपति-निर्देश है।

करुण-भाव से फिर नृप बोले "मेरी प्यारी !
कभी न टाली तुमने अब तक बात हमारी।"
"नाथ ! मरण-पर्यन्त न टालूगी मैं अब भी
मर जाऊँगी बात निभाऊँगी मैं तब भी।"

सुनकर रानी के वचन ये नृप बोले "हाँ मानना,
ठुकराना मत इसे, है यह अन्तिम मेरी याचना।"

प्रत्युत्तर में सारन्धा ने प्रखर करौली—
खींच वक्ष पर अपने उसने निर्भय तौली।
फिरबोली "यह प्रिय का हीआदेश नहीं है !
मेरी आत्मा का भी तो निर्देश नहीं है।"

है यह नैसर्गिक कामना इस दासी के चाव की,
"मर कर भी यह सुखी रहे प्रिय-पदाब्ज के भाव की।"

"नहीं शुभे, यह भाव नहीं है मेरे मन का,
छोड रही हो मोह आज तुम मेरे तन का।
पहने हुये बेड़ियाँ मैं, क्या (रग रलियों में)
निन्दित होता फिरूँ आगरा की गलियों में।

क्या इसीलिये रिपु-करों में मुझे निराश्रय छोड़कर,
तुम जाओगी इस दुःख में सब कुछ नाता तोड़ कर।"

रानी ने जिज्ञासु-दृष्टि से पति को देखा,
मिली न उसको किन्तु वहाँ पर कोई रेखा।
तब बोली 'हे जयी, न काँटों बीच घसीटें
दासी को हा वचन-वेग से यों मत पीटे।"

वह नृप की अन्तर्भावना समझ न पाई थी अभी,
वंचक बाते यों भूप से सुनी न थीं उसने कभी।

नृप बोले "हे वरानने! कुछ माँगूँ तुमसे,
स्वीकृत का विश्वास अगर पाजाऊँ तुमसे।
बड़ी बड़ी आशाओं की ओ मेरी रानी!
मुझ प्यासे को पिला सकोगी क्या यह पानी?

है केवल अन्तिम प्रार्थना, लो श्रेय प्राप्त कर पूर्ति का
दो मूल्य बढ़ा संसार मे मर्यादा की मूर्ति का।"

रानी कहने लगी कि "अनुशासन भी पाऊँ
फिर देखे प्रिय, उसे पाल कर अभी दिखाऊँ।"
"देखो तुमने वचन दिया है बदल न जाना"
नृप ने कहा 'प्रिये समुचित है बात निभाना।'

रानी ने कम्पित हो कहा "प्रियतम, अब आदेश दो!"
"तो तुम अपनी तलवार से वक्ष हमारा छेद दो!"

यथा मौलि पर पड़े हथौड़ा अधिक चुटीला
त्यों ही उसके लिये हुई यह गिरा अशीला।
बोली "कैसे होगा मुझसे कान्त! बताओ,
हाय बचाओ मुझ दुखिया को यों न सताओ।

मैं अबला हूँ निरुपाय हूँ आप जयी-कुल-पाल हैं,
फिर कैसे मुझ अनुचरी को रहे नरक में डाल हैं।"

खाकर निष्ठुर चोट निकलकर दुखिया मन के,
करुणा को भी लगे रुलाने आँसू उसके।
उधर भूप ने देखा धरती पर आ खेला,
अन्तिम और पाँचवाँ भी वह वीर बुन्देला।

तब तो अधीर वे हो गये झुँझला कर बोले कि "हा,
हत, इसी सुभट पर गर्व था आन निभाने का रहा।"

निरवरोध औरंगज़ेब के अब उत्साही—
हुये भूप की ओर अग्रसर जयी सिपाही।
तब नृप ने नैराश्य और याचक भावों से—
देखा स्वजनी ओर सकरुणार्द्रित भावों से।

"हाँ यह शरीर अब सहेगा रिपु-कारा के क्लेश हाँ।
कौन सुनेगा वहाँ से मुझ बन्दी के सन्देश हाँ।"

रानी का निष्कर्ष न अब तक हो पाया था,
खड़ी हुई थी उस पर भीषण भय छाया था।
पर विपत्ति के आने पर है प्रायः देखा
हो जाती है अतिशय गहरी निश्चय-रेखा।

उसने नृपाल की ओर तब देखा पर चुप रह गई
नीरव-भाषा मे हृदय की जाने क्या वह कह गई।

अब वह क्षण थे निकट कि जब उन नर-पुंगव को,
हाथ बढ़ा अरि धरि पकड़ें उन गुरु गौरव को।
और प्रथम इसके कि करें वे कुछ शैतानी,
कौंध उठी सौदामिनि सी सारन्धा रानी।

उसने अपना खर खड्ग झट भोंक भूप उर में दिया,
यों प्रियतम का अप्रिय हनन पल में उसने कर दिया।

जिसका जर्जर गात अस्थि चर्मावशिष्ट था,
ज्वर का दारुण दाह जिसे दे रहा कष्ट था,
रूक्ष बदन को करुण नेत्र नीरव धोते थे,
और विवशता पर जिसके आँसू रोते थे।

हा उसी भूप के वक्ष पर यह निष्ठुर संघात था,
अपनी रानी का हाथ था और क्रूर आघात था।

गौरवमय बलिदान

पति-वक्ष प्रदेश में तलवार भोकती हुई और वृद्ध तथा दुर्बल पति
का दयनीय बलिदान करती हुई सारन्धा का चित्र

A. L. J PRESS, ALLAHABAD

नर-नारी की प्रीति रीति में निर्मम विप्लव—
हुआ कहाँ कब ऐसा किससे अब तक सम्भव ?
भूप-हृदय से निकल रही थी शोणित धारा
खेल हो गया था जीवन का पूरा सारा।

उनके चेहरे पर शान्ति थी, थी विषाद रेखा नहीं—
ऐसा भीषण उत्सर्ग भी भला गया देखा कहीं ?

वह स्त्री जो अपने पति पर ही मरती थी
अपनी मधुरी मनुहारें जिससे भरती थी
वह स्त्री, जिसने कि हृदय से हृदय लगा कर
लूटा था यौवनानन्द जिससे सुख पाकर।

हा आज न जानें किस तरह अपनी तीक्ष्ण कृपाण से
यों छेद रही उस स्वपति को गौरव से अभिमान से।

जिस पर करती रहीं लास्य थीं अभिलाषायें
जिस पर छाईं रहीं अमिति उसकी आशाये
जो उसके आत्माभिमान का केन्द्र बना था
जिस पर उसके सुख सुहाग का शिखर तना था

उस रानी ने अब खड्ग से उसी हृदय का वध किया,
किस स्त्री की तलवार ने है ऐसा जौहर किया ?

आह गर्व का यह विषाद से भरा अन्त था !
पिंजर ख़ाली पड़ा पक्षि उड़ गया हन्त था !
था सिपाहियों को मन्त्रो ने मानों कीला,
जान पड़ी यह उन्हें अलौकिक अद्भुत लीला

वे रानी के इस शौर्य से साहस से गुरु-धैर्य से
सब मन्त्र मुग्ध से दङ्ग थे उसके इस स्थैर्य से।

रानी सम्मुख जा कर उनका शीश झुक गया,
उद्धत दुर्दमनीय वेग भी अहो रुक गया।
सभी बन गये उस देवी के विनत पुजारी
द्वेष-भाव-मूलक विचार से गत अविकारी।

उसके प्रभाव की लहर में दल-नायक बहने लगा,
गद्गद होकर इस भाँति वह रानी से कहने लगा।

उफ़! हिन्दू औरतें क्या न क्या कर सकती हैं,
मर सकती हैं और आग मे जल सकती है।
दुनिया के रूबरू आज उनकी यह शेरी,
है ज़ाहिर हो रही गज़ब से भरी दिलेरी।

अफ़सोस, हमारा दीन पर हुआ न कुछ आरामदह,
कैसे देगा मख़लूक को राहत का पैगाम यह ?

दीन हमारे ने अब तक कितने घर खोये ?
तलवारों के बल पर कितने वंश डुबोये ?
कितने ही गाँवों कसबों शहरों की प्यारी—
हस्ती ही तबाह कर डाली जड़ से सारी।

पर सच तो यह है उन्हें इस दुनिया में अभिमान से—
रहने को जिन्दा कर दिया एक अनोखी शान से।

मारवाड़ की और उदयपुर की तारीख़ें,
और दूसरी कितनी ही कौमी तारीखें,
मैंने देखी मगर न था अब तक वह देखा,
जिसको मैंने अभी अभी आँखों है देखा।

लिल्लाह ! ग़जब का फ़ख है हासिल हिन्दुस्तान को,
उसकी इस शान ग़ुमान को आन-बान अभिमान को।

पहिचाना हिन्दू जमीर मैंने पहिचाना !
और आज के जौहर से जौहर को जाना !
क़ुर्बानी की क़द्र किमिया मैंने जानी !
सर्मसार हो गई आज रूहे शैतानी !

है रानी जी सादिक़ ख़ुदा, हूँ ग़ुलाम मैं आपका,
इरशाद करे, लाये बजा, बन्दा हाजिर आपका।

दल-नायक के विनत विचार,
उचित प्रदर्शित शिष्टाचार,
और देख सौजन्य उदार—
रानी बोली "ओ सरदार!

एक वीर के लिये जो उचित सदा से रहा
धन्य वीर, वही सुनती हूँ आज मैं यहाँ।
मेरी एक कामना है शेष सविशेष रही
मेरे सुतों मे से यदि कोई बचा हो वहाँ—

तो ये दोनों लाशें उसे सौंप देना जेता वीर!
कहा और वही खड्ग भोंका अपने भी जहाँ-
वहीं वह हो गई अचेत, शीश देखा गया
भूपति के वक्ष पर हँसता सा था वहाँ।

१

करती थी जो वीर बन्धु का पथ-निर्देशन!
करती थी जो प्राण-सखा का मोह विमोचन!
जिसने दारा-विजय-दर्प डस डाला जाकर!
जिसने बली बहादुर को ललकारा जाकर!

इस विजन वन्य पथ में अहो उसका यह अवसान है,
इस गौरव पर किसका नहीं तन उठता अभिमान है?

!

गौरव तथा—
निज देश पर—
वित - सुत-स्वपति -
निज देह भी,
उत्सर्ग कर—
यों लिख गई—
इतिहास में,
पढ़ लें सभी,
जिसको नहीं—
गौरव तथा—
निज देश का—
अभिमान है।
वह नर नहीं
नर-पशु निरा है
और
मृतक समान है।